CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हि.१२४८
२२७८

विश्व की मूल लिपि ब्राह्मी

५.२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्ति-संख्या..................
न्थ-कार्ड
॰ जैन (शोध) संस्थान
न्थागार
, वाराणसी-५
किष्ट की मूल लिपि
र- जैन
लेनेवालेका | लौटानेकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2268

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विश्व की मूल लिपि ब्राह्मी

"णमो बंभीए लिवीए"

डॉ. प्रेमसागर जैन
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
दि. जैन कॉलेज, बड़ौत (उत्तर प्रदेश)

वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर
वी. नि. सं. २५०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

© डा. प्रेमसागर जैन

प्रकाशक :
श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति,
४८, सीतलामाता बाजार,
इन्दौर–४५२ ००२, (म. प्र.)
आवरण : विष्णु चिंचालकर

प्रथम आवृति
वी. नि. सं. २५०१
ईस्वी सन् १९७५

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :
नई दुनिया प्रेस,
इन्दौर

विश्व की मूल लिपि ब्राह्मी
भाषा विज्ञान
डा. प्रेमसागर जैन

Vishwa Ki Mul Lipi Brahmi
Linguistics
Dr. PREMSAGAR JAIN

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस ग्रन्थ के प्रेरणा-दीप

मां भारती के वरद पुत्र, विश्व-मैत्री के
प्रतीक और वीतरागता के तपी साधक
१०८ मुनिश्री विद्यानन्दजी के
चरण-कमलों में

सश्रद्ध समर्पित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अरह मुघल येजह्न थेल्लाँ आदि ।
भगवन् निम्बा कलुत्तधम् पलवे ॥१॥

अवर्णो वर्तते लोके शब्दानांप्रथमो यया ।
तथादि भगवानस्ति पुराणपुरुषोत्तमः ॥१॥

'अ' जिस प्रकार शब्दलोक का आदि वर्ण है, ठीक उसी प्रकार आदि भगवान् आदिनाथ पुराण-पुरुषों में आदिपुरुष हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशीःवचन

ब्राह्मी को लेकर नाना कथन और उपकथन चले। शोध-खोज के सतत प्रवाह में यह स्वाभाविक भी है; किन्तु ब्राह्मी भारतभूमि पर जन्मी, पली और बड़ी हुई, ऐसा निर्विवाद सत्य है। जैन अनुश्रुतियों में उसके अनेकानेक उदाहरण सुरक्षित हैं। कर्मसृष्टि के प्रारम्भ में अन्तिम कुलकर नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव ने अनेक विद्याएँ प्रजा, पुत्रों और अपनी पुत्रियों को दीं। इनके बिना भोगभूमि का कर्मभूमि में रूपान्तरण सही न हो पाता। वह सही हुआ, सफल हो सका, इसका एकमात्र श्रेय प्रजापति की अनूठी प्रतिभा, श्रम और पौरुष को ही था। उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि का ज्ञान दिया, ऐसा जैनधारा से प्रमाणित है। ब्राह्मी उसमें खो गई, दोनों का तादात्म्य अनूठा था। उससे ब्राह्मी, ब्राह्मी न रह कर लिपि हो गई और लिपि 'लिप उपदेहे' छोड़ कर अलिपि हो उठी। तो, लिपि ब्राह्मी कहलायी और ब्राह्मी लिपि। दोनों के समायोजन की कथा इस भारतभूमि पर लिखी गयी। कोई विदेशी आज भले ही उसे अपना कहे।

प्रजापति ऋषभदेव ने ब्राह्मी को अक्षरज्ञान दिया। वह स्थूल था किन्तु सूक्ष्म भी। वह भौतिक था किन्तु आध्यात्मिक भी। वह साकार था किन्तु निराकार भी। ब्राह्मी के अध्यात्म में डूबे सतत मन ने, दीर्घ तप और साधना ने दोनों को उजागर किया। शायद यही कारण है कि 'आत्मानुशासन' के रचयिता ने अक्षर समाम्नाय का चरम प्रयोजन परमात्म-प्राप्ति माना। और शायद यही कारण है कि 'कल्याण मंदिर' का स्तोता 'किं वाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश !' कह सका। योगवासिष्ठ का ऋषि 'लिपिकर्मार्पिताकारा' होकर ही ध्यानासक्त मन से परमात्मा को पा सका। पं. आशाधर ने 'आध्यात्म रहस्य' में शब्द और अर्थ के ग्रहण को उपयोग कहा। उनकी दृष्टि में शब्द-गत उपयोग 'दर्शन' और अर्थगत उपयोग 'ज्ञान' कहलाता है। और पुरुष-आत्मा दर्शन-ज्ञान रूप है। तो, अभारतीय विद्वान ब्राह्मी लिपि को जिस कैमरे से खींचते रहे, वह केवल स्थूल उपकरणों से बना था। उसके सूक्ष्म अध्यात्मालोक को उतार पाने में वह नितांत असमर्थ रहा।

जैन-श्रुत में अक्षर, वर्ण, शब्द, पद और वाक्यों का विशद विवेचन मिलता है। विशद का अर्थ है कि उनके सभी पहलुओं को भली-भांति जांचा-परखा गया है। उससे लिपि के बाह्यांगों का पूर्ण व्यक्तीकरण हुआ है तो प्रयोजन-गत सूक्ष्म भाव भी गोपनीय नहीं रह सके हैं। इसी आधार पर जैनाचार्यों ने लिपि को द्रव्य लिपि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और भाव लिपि के रूप में दो भागों में बांटा है। वर्णमाला के आदि अक्षर 'अ' की महिमा से ऐसा स्पष्ट है। लिखा मिलता है कि–"अकारंचन्द्रकान्ताभं सर्वज्ञं सर्वहितं-करम्।" इसका अर्थ है कि चन्द्र की कान्तिवाला 'अ' सर्वज्ञ है और सर्वहितकारी है 'सर्वज्ञ' जैन पारिभाषिक शब्द है। सर्वज्ञ वही होता है, जिसे केवलज्ञान हो जाये। केवल ज्ञान से तात्पर्य है कि जीवात्मा परमात्म रूप हो गया हो, अर्थात् परमानन्द बन गया हो, अर्थात् ज्योतिर्मय हो गया हो––ऐसी ज्योति जो कभी चुके न, सदैव बनी रहे––शाश्वत, चिरंन्तन। 'नन्दिकेश्वर काशिका' की 'अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः' पंक्ति से इसकी पुष्टि होती है। इसका अर्थ है कि अकार परम प्रकाश है––ऐसा प्रकाश जो परम शिव है। यहाँ प्रकाश और शिव दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं। पृथक्त्व सम्भव नहीं है। दिव्य प्रकाश वही है जो शिव हो और शिव वही है जो दिव्य प्रकाश-सा छिटका हो। 'अकार' ऐसा ही है।

वर्णमाला के अन्तिम वर्ण 'ह' को लेकर 'अकार' ने जिस बीजमन्त्र की रचना की वह पूर्ण सर्वहितकारी है। बीजमन्त्र है––अर्हम्। 'विद्यानुशासन' में अर्हम् को परमसत्ता का प्रतीक कहा गया है। वह शक्ति-सम्पन्न है। जो प्रति दिन इसका ध्यान करता है, वह सब प्रकार से सदैव सुखी रहता है। योगीजन इस परम ज्योतिरूप अक्षरब्रह्म का ध्यान कर स्वयं ज्योतिरूप हो जाते हैं, तत्त्वानुशासन का यह कथन सर्वथा सत्य है। इसमें 'अ' अमृत है, 'र' रत्नत्रय है और 'ह' मोह-हन्ता है। तीनों का समन्वय जो समूची वर्णमाला को आप्यायित किये है, परमब्रह्म है। आचार्यों ने इस परम ब्रह्म को 'सिद्धचक्रस्य सद्‌बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहम्' कह कर प्रणाम किया है। एक कारिकाकार ने 'र' को छोड़ कर 'अ' और 'ह' से अहम् पद की सृष्टि की है और लिखा है––अहं स्ववाचक, आत्मबोधक शब्द है, अतः अक्षरों का सत्य आत्म-प्राप्ति में ही उपलब्ध होता है।

यायावर श्रमण साधुओं ने ब्राह्मी लिपि को एक युग से दूसरे युग तक और एक देश से दूसरे देश तक फैलाया, यह एक प्रामाणिक बात है। प्राचीन साहित्य और पुरातत्व से इसकी पुष्टि होती है। राहुल सांकृत्यायन ने 'घुमक्कड़ शास्त्र' में इसके अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। एक आचार्य थे दोलामस––नितांत निःसंग और नग्न। सम्राट सिकन्दर ने उन्हें अपने शिविर में बुलाया, वे न गये तो स्वयं आया और उनकी आध्यात्मिक मस्ती से प्रभावित हुए बिना न रह सका। लौटते समय वह उनके संघ के कुछ साधुओं को अपने साथ ले गया। यह एक इतिहास-प्रसिद्ध बात है। इसी आधार पर पं. सुन्दरलाल कह सके कि–"पश्चिमी एशिया यूनान, मिश्र और इथियोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों हजारों जैन सन्त महात्मा जा-जाकर जगह-जगह बसे हुए थे।" तो, जैन साधुओं ने वहाँ-वहाँ अध्यात्म फैलाया। माध्यम था ब्राह्मी लिपि और उसकी वर्णमाला। आदान-प्रदान ने कुछ नये रूप दिये, किन्तु वे ब्राह्मी से पृथक् कैसे कहे जा सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों की मुख्य लिपि थी खरोष्ठी। चीनी विश्वकोष फा-वान-शुलिन का यह कथन सत्य-सा लगता है कि उस के स्रष्टा कोई खरोष्ठ नाम के आचार्य थे। 'खरोष्ठ' की व्युत्पत्ति वृषभोष्ठ से मानना युक्ति-संगत है। वर्ण-विपर्यय से यह सम्भव है। इस के अतिरिक्त, प्रजापति वृषभदेव ने अपनी पुत्रियों को बायें से दायें लिखना सिखाया तो दायें से बायें भी। साथ ही, ब्राह्मी के अठारह भेदों में खरोष्ठी का नामोल्लेख हुआ है, ऐसा समवायांग आदि जैन ग्रन्थ और ललित-विस्तर जैसे बौद्ध ग्रन्थ से प्रमाणित ही है।

जैन सन्दर्भ में ब्राह्मी लिपि पर एक ग्रन्थ की रचना होनी ही चाहिए, ऐसा मेरे मन में आया था। आज से तीन वर्ष पूर्व, मैंने यह बात डॉ. प्रेमसागर जैन से कही। काम कठिन था, किन्तु वे सहमत हो गये। लगन के साथ लगे रहे। कार्य सम्पन्न हुआ। मुझे पूर्ण सन्तोष है। प्रसन्नता है। धर्म और धर्म के नाना दृष्टिकोणों के तुलनात्मक विवेचन तथा विभिन्न भाषाओं के विशद अध्ययन ने ही नहीं, अपितु उन्मुक्त खुले चिन्तन ने डॉ. प्रेमसागर जैन को एक ऐसी व्यापक निष्ठा दी है, जिससे वे मन साध कर काम कर पाते हैं। यह ग्रन्थ उनके सधे मन और सतत श्रम का प्रतीक है। उनका मंगल हो।

महावीर जयन्ति,

वीर निर्वाण सं. २५०१

विद्यानन्दमुनि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर का यह प्रकाशन कई दृष्टियों से बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण है। यह न कोई जीवनी है, न उपदेश अपितु जैन संस्कृति की गरिमा को उद्घोषित करनेवाला एक तथ्यमूलक प्रकाशन है। सब जानते हैं भाषा और लिपि न केवल भारतीय वरन् विश्व-संस्कृति की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। ब्राह्मी लिपि दादी माँ है, प्रायः समस्त भारतीय लिपियों की। वह मात्र आकृतियों की तालिका नहीं है, अपितु आध्यात्मिक प्रेरणाओं की सूक्ष्म संकलिका भी है। जैन संदर्भ में ब्राह्मी और ब्राह्मी लिपि, जिन्हें लोकमानस करीब-करीब भुला चुका है, को जाँचने-परखने का यह प्रथम प्रामाणिक और तर्कसंगत प्रयास है। विद्वान् लेखक ने इसे लिखने में परिश्रम तो अनथक किया ही है साथ ही जहाँ भी संभव हुआ है उसने प्राचीन जैन ग्रन्थों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, रजत एवं स्वर्णपट्टों तथा मूर्तिलेखों से तथ्यदोहन भी किया है। हमें विश्वास है, ग्रन्थ के प्रकाशन से विद्वज्जन तो लाभान्वित होंगे ही, उन लोगों को भी नये तथ्य और मौलिक सामग्री मिलेगी जो लिपि का क, ख, ग भी नहीं जानते।

"लिपि : व्युत्पत्ति और विश्लेषण" के अन्तर्गत लेखक ने अभिनव सामग्री का संयोजन किया है। विषय-वस्तु के जटिल और दुरूह होते हुए भी उसने अपने सहज व्यक्तित्व की सरसता से उसे हरा-भरा और सुखद बनाया है इसीलिए जानलेवा मरुस्थल में भी कई शाद्वल-खण्ड देखे जा सकते हैं, कई सघन अमराइयों की छाँव में विश्राम किया जा सकता है। हमें भरोसा है, विषय की जटिलता पाठक को कहीं रोकेगी या थकायेगी नहीं, वह सर्वत्र विभोर और प्रसन्न बना रहेगा।

अब यह तथ्य प्रायः सर्वसम्मत है कि भगवान् ऋषभदेव पूर्ववैदिक थे और उन्होंने कर्मभूमि का प्रवर्तन किया था। उन्होंने प्रजा को छह आवश्यक नित्यकर्म बताये थे, तथा उसे नाना विद्याओं की शिक्षा-दीक्षा दी थी। उन्होंने अपनी बड़ी बेटी ब्राह्मी को लिपि-ज्ञान दिया था। ब्राह्मी ने लिपि की गहरी साधना की थी। वह लोकप्रिय थी, लोकानुरंजिनी। उसने स्थानीयता के तथ्य का अध्ययन किया था और तदनुसार १८ लिपियों का प्रचलन भी। इन सबका विशद विवेचन जैन ग्रन्थों में सुरक्षित है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने केवल जैन ही नहीं वरन् बौद्ध स्रोतों की भी सहायता ली है और अभी तक अजाने-अविदित तथ्यों को प्रकट किया है। ब्राह्मी कभी दिवंगत नहीं हुई, उसका स्वभाव सदैव लोकोन्मुख रहा; उसने हर युग, देश और काल में नया रूपाकार ग्रहण किया और बदलते हुए संदर्भों में समायोजित होते हुए भी वह अत्यन्त वैज्ञानिक और आध्यात्मिक बनी रही। उसका सांस्कृतिक व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहा। इसीलिए आज भी भारत की प्रत्येक लिपि पर ब्राह्मी की छाप देखी जा सकती है। इसी दृष्टि से लेखक ने नागरी को 'आधुनिक ब्राह्मी' अभिहित किया है। हमें विश्वास है लिपि के इतिहास में एक क्वाँरा अध्याय खोलनेवाला यह ग्रन्थ महवत्त्पूर्ण सिद्ध होगा। परम पूज्य उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज की प्रेरणा से प्रकाशित यह ग्रन्थ पाठकों में तो लोकप्रिय होगा ही, विद्वज्जनों में भी भरपूर समादृत होगा। समिति कृतज्ञ है विद्वान् लेखक, कलामर्मी श्री विष्णु चिंचालकर तथा नई दुनिया प्रेस की जिन्होंने एक समन्वित प्रयत्न द्वारा इसे इतना कलात्मक और निर्दोष रूप प्रदान किया है। —मंत्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रम

१. आशीर्वचन — मुनिश्री विद्यानन्दजी.

२. आमुख — १-२०

३. लिपि : व्युत्पत्ति और विश्लेषण — २३-५४

लिपि और लिपिकर, अक्षर, वर्ण, लेख-सामग्री, लिपि की प्राचीनता.

४. ब्राह्मी लिपि — ५५-११३

ब्राह्मी शब्द और उसका प्रयोग, ब्राह्मी लिपि का नामकरण, ब्राह्मी का पूज्य भाव, ब्राह्मी लिपि की शिक्षा-दीक्षा, ब्राह्मी लिपि : विकास की ओर, अष्टादश प्रकारा ब्राह्मी लिपि, प्रसारोन्मुखा ब्राह्मी, गुप्त लिपि, नागर लिपि, कुटिल लिपि, शारदा लिपि, ब्राह्मी से विकसित दक्षिणी लिपियाँ.

५. खरोष्ठी लिपि — ११४-११९

६. वर्ण-विपर्यय — ११९

७. अंकलिपि — १२०-१२७

८. विश्वभाषाओं की लिपि-संख्या — १२८

९. भारतीय लिपिमाला—स्वर और व्यञ्जन — १२९

१०. चौबीस तीर्थंकर अक्षर-माला-स्तोत्र — १३०-३१

११. अकारादि अक्षर : वर्ण तथा फल — १३२-३४

१२. अंकानां वामतो गतिः — १३५

१३. ४४३ ई. पू. के एक अभिलेख की ब्राह्मी लिपि — १३६

१४. सम्राट् खारवेल (१७० ई. पू.) के शिलालेख की ब्राह्मी लिपि — १३७

१५. शब्दानुक्रमणिका — १३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि मोहन-जो-दरो-लिपि के कुछ चिह्न ब्राह्मी-वर्णों के सदृश या लगभग वही हैं। इसके अतिरिक्त व्यञ्जन वर्णों में स्वरमात्राओं के लगाने की ब्राह्मी-विशिष्टता भी मोहन-जो-दरो-लिपि में प्राप्त होती है।

☐

ब्राह्मी सार्वभौम थी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का अभिमत है कि यदि कोई एक ब्राह्मी लिपि को अच्छी तरह सीख जाये, तो वह अन्य लिपियों को थोड़े ही परिश्रम से सीख सकता है और शिलालेख आदि को पढ़ सकता है, क्योंकि सारी लिपियाँ ब्राह्मी से ही उद्भूत हुई हैं। जैन यायावर साधु सीलोन और जावा-सुमात्रा तक ही नहीं, अपितु पश्चिमी एशिया, यूनान, मिश्र और इथियोपिया आदि देशों के पहाड़ों और जंगलों में जा-जा कर जगह-जगह बसे हुए थे। वहाँ उन्होंने ब्राह्मी लिपि का प्रचार-प्रसार किया।

☐

महावीर का तीर्थकाल पश्चिम के अरस्तू और चीन के शुइन-त्सू के सिद्धान्तों का मध्य स्रोत तथा पायथेगोरस और कन्फ्यूशस की विचार-क्रान्ति का मिलन-स्थल माना जाता है।

☐

ब्राह्मी लिपि पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। उसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए निश्चित चिह्न हैं। घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण और अनुनासिक—सभी प्रकार की ध्वनियों के लिए लिपि-चिह्न निर्धारित हैं। ध्वनि तथा उसके प्रतीक चिह्न के उच्चरण में यत्किञ्चिद् भी अन्तर नहीं है। सेमेटिक और आर्मेइक में सबसे बड़ी कमी है कि उसमें ध्वनि के अनुरूप अक्षर नहीं हैं। दीर्घ स्वर का नितांत अभाव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आमुख

तदेव तस्मै कस्मैचित्परस्मै ब्रह्मणेऽमुना ।
सूक्ष्मेनेदं मनः शब्दब्रह्मणा संस्करोम्यहम् ।।
——अध्यात्म-रहस्य

भारत की पुरालिपि और पुराविद्या के साधकों को उन पाश्चात्य पण्डितों का कृतज्ञ होना ही चाहिए, जिन्होंने अल्पसाधनों के मध्य भी इन विषयों पर लिखा साधन सीमित थे, सामग्री अल्प थी और वे दूर-देशान्तरों की भाषा और लिपि के परिवेश में पनपे और बढ़े थे। उनका दृष्टिकोण भिन्न होना स्वाभाविक था। उन्होंने जैसा समझा, लिखा। आज हमारी गवेषणाओं के लिए उनका दिया आधार तो है ही। नये साधन, नयी सामग्री और नये युगबोध के सन्दर्भ में, यदि उनका लिखा हुआ, दूर-दराज से आती आवाज़-सा मालूम पड़े तो आश्चर्य का विषय नहीं है। गवेषणा का रथ सतत चलता है। किसी एक की शोध-खोज मील का अन्तिम पत्थर नहीं होती। यह भी नहीं होगा, ऐसा मैं विनत हो मानता हूँ।

ब्राह्मी लिपि का मूलदेश भारत नहीं था, भारतनिवासी लिपिविद्या से शून्य थे, उन्हें यह ज्ञान बाहरी देशों के सम्पर्क से मिला आदि अनेक बातें चल पड़ी थीं। सब-से-पहले ओझा जी ने, 'प्राचीन लिपिमाला' में इन सब पर तटस्थ होकर विचार किया। वे विशुद्ध भारतीय थे। उनका दृष्टिकोण भी वैसा ही था। वे सच्चे शोधक और जिज्ञासु थे। फिर भी, उनके काल तक, जैन शास्त्र-भण्डार बन्द थे। उनमें प्रवेश असम्भव-प्रायः था। ओझाजी विवश थे, ठीक वैसे ही जैसे प्रो. जैकोबी, जैसे डा. विण्टरनित्स। आज वह सामग्री उपलब्ध है। मैंने उसका यथासम्भव यथाशक्य प्रयोग किया है। फिर भी, बहुत कुछ ऐसा बच गया होगा, जिसे मैं नहीं देख सका हूँ। उसे अन्य देखेंगे, ऐसा विश्वास है।

ब्राह्मी के उद्गम को खोजते हुए अनेक कल्पनायें की गईं। किसी ने वेद, किसी ने ब्रह्म, किसी ने ब्राह्मण और किसी ने ब्रह्मदेश को ब्राह्मी का जनक बताया। किन्तु श्रमणधारा के आदि प्रवर्त्तक सम्राट ऋषभदेव की ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। मैंने अपने ग्रन्थ 'भरत और भारत' में उनका उल्लेख किया है। ऋषभदेव के पिता नाभिराय अन्तिम कुलकर थे। अन्तिम होते हुए भी दीर्घायु, समुन्नत शरीर, अप्रतिम रूप-सौन्दर्य, अपार बल-विक्रम और विपुल गुणों के कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब-से-अग्रिम थे। श्रीमद्‌भागवत् में उन्हें आदि मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत और प्रियव्रत के आग्नीध्र तथा आग्नीध्र के नौ पुत्रों में ज्येष्ठ माना है। महाराजा नाभि अपने विशिष्ट ज्ञान, उदारगुण और परमैश्वर्य के कारण कुलकर अथवा मनु कहलाते थे। उनके समय में एक बृहद् परिवर्तन हुआ कि यह पृथ्वी भोगभूमि से कर्मभूमि में बदलने लगी। उन्होंने इस बदलते युग को दृढ़ता-पूर्वक सम्भाला, अपनी निष्ठा, श्रम और प्रतिभा के बल पर उसे व्यवस्थित किया, जिससे त्राहि-त्राहि करती प्रजा सुख-सन्तोष की साँस ले सकी। शायद इसी कारण उनकी स्थायी यादगार के रूप में इस देश को अजनाभवर्ष कहा जाने लगा। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, "यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाता था।"[1]

नाभि-पुत्र ऋषभदेव ने प्रजा को कर्म की शिक्षा दी। उसमें निष्णात बनाया। वे कर्म के वरेण्य दूत थे। उन्होंने कर्मभूमि में रहना सिखाया। वे सब-से-पहले आदमी थे, जिन्होंने "शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः"––जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। खेती की पहली शिक्षा ऋषभदेव ने दी थी, इस बात को शायद विश्व न जानता हो। ऐसे उद्धरण जैन ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। सच यह है कि खेती से ही कर्मभूमि की मुख्य समस्या का समाधान हुआ, और आर्य कृषि-जीवी कहलाये। यदि भारत इस 'कृषि-जीवी' की परम्परा को अक्षुण्ण रखता, तो वह कभी-भी अधोगति को प्राप्त नहीं हो सकता था। आज भी उसकी उन्नति कृषि में ही सुरक्षित है। ऋषभदेव ने तो उस पर इतना अधिक ध्यान दिया कि उसके माध्यम वृषभ को अपना चिह्न माना। वे वृषभलाञ्छन कहलाये। पुरातत्त्वज्ञ इस चिह्न से ही उनकी मूर्त्तियों को पहचान पाते हैं। इतिहास के पुराने पृष्ठों पर बचा यह एक ऐसा उद्धरण है, जिसे अपनाकर आज भी भारत राष्ट्रों का शिरमौर बन सकता है। जब मिसीसीपी की धरती खेती से डालर उगा सकती है, तो गंगा, यमुना, सिन्धु और नर्मदा की पावन-भूमि क्यों नहीं? एक ऐसा प्रश्न है, जिससे भारत गणतन्त्र सबक तो ले ही सकता है।

खेती में इक्षुदण्ड स्वतः प्रसूत थे, किन्तु प्रजा उनका उपयोग करना नहीं जानती थी। ऋषभदेव ने उसकी विधि बताई। उनसे रस निकालना सिखाया। उस पर बल दिया। यहाँ तक कि उन्होंने अपने को इक्ष्वाकुवंशी कहा। महापुराण में लिखा है, "आकानाच्च तदिक्षूणां रस-संग्रहणे नृणाम्। इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसम्मतः॥"[2] आज का भारत इन इक्ष्वाकुवंशियों का वंशधर है। सही

---

१. मार्कण्डेयपुराण: सांस्कृतिक अध्ययन, पादटिप्पड़-1, पृ. 138.

२. महापुराण, भगवज्जिनसेनाचार्य, 16/264.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थों में बने तो उसकी अगण्य समस्याएँ स्वतः हल हो जायेंगी। क्या अरब का तैल और भारत का इक्षु समकोटि में नहीं आ सकते। यह भारतवासियों पर निर्भर करता है।

ऋषभदेव ने केवल कृषि ही नहीं, असि, मषी, विद्या, वाणिज्य और शिल्प की भी शिक्षा दी। ये षड् जीवनोपयोगी उपाय थे, जिनमें उन्होंने अपनी प्रजा को निपुण बनाया। इतना ही नहीं, कलाओं के तो वे जनक ही थे। उन्होंने ७२ कलाओं का ज्ञान प्रदान किया। उनमें एक लेखन कला भी थी। मषी जीवनोपयोगी उपायों में पहले ही से मौजूद थी। अर्थात् लेख और मषी दोनों की शिक्षा ऋषभदेव ने दी। दोनों का संयोग लिपि की ओर इशारा करता है। यह सहस्रों वर्ष पूर्व की बात है, जबकि पाश्चात्य देशों ने ठीक से रहना और कपड़े पहनना भी नहीं सीखा था। भोगभूमि के बाद, सब-से-पहला यही देश था, जिसने जीवनोपयोगी उपायों को सीखा और साधा। शिक्षक थे ऋषभदेव, जिनका उल्लेख वेदों से लेकर श्रीमद्भागवत् तक अविच्छिन्न रूप से मिलता है।[१] डॉ. पी. सी. राय चौधरी का अभिमत है कि भगवान् ऋषभदेव ने पाषाण युग के अन्त में और कृषि युग के प्रारम्भ में जैनधर्म का प्रचार मगध में किया।[२] शायद डॉ. चौधरी को यह विदित नहीं था कि कृषि के आविष्कर्त्ता ऋषभदेव ही थे।

श्रमणधारा के ग्रन्थों में ऋषभदेव की जैसी प्रशंसा मिलती है, उससे कहीं अधिक वैदिक ग्रन्थों में। वे दोनों में समरूप से आदरणीय बने। श्रमण और वैदिक दोनों धाराएँ बहुत दूर तक एक-दूसरे की पूरक रहीं। मुनियों की प्रशंसा उसी प्रकार हुई, जैसे कि ऋषियों की। श्रीमद्भागवत में "नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिः ऋषभः।"[३] लिखा मिलता है तो श्रीमद्भगवत् गीता में भी, "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयाक्रोधः स्थितिर्धी मुनिरुच्यते।।"[४] लिखा गया। इस सन्दर्भ में डॉ. मंगलदेव शास्त्री का एक कथन दृष्टव्य है, "ऋग्वेद के एक सूक्त (१०/१३६) में मुनियों का अनोखा वर्णन मिलता है। उनको वातरशनाः (दिगम्बर), पिशंगा, वसतेमला और प्रकीर्णकेशी इत्यादि कहा गया है। यह वर्णन श्रीमद्भागवत् के पंचम स्कन्ध में दिये हुए जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के वर्णन से अत्यन्त समानता रखता है। वहाँ स्पष्ट शब्दों

---

१. देखिए–ऋग्वेद 4/6/26/4, अथर्ववेद–16वां काण्ड-प्रजापतिसूक्त, महाभारत–शान्तिपर्व 12164/20, वायुपुराण–पूर्वार्द्ध 30/50-51, ब्रह्माण्डपुराण 14/49, लिंगपुराण 47/29, श्रीमद्भागवत्–5/4/2, 5/4/14, 1/17/22/5/5/19 आदि.

2. Jainism in Bihar P. 7. L. P.

३. श्रीमद्भागवत्, 5/6/24

४. भगवद्गीता, 2/56

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमणमुनियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से अवतार लिया था।"[1]

ऋषभदेव ने यदि एक ओर कर्म और श्रम का उपदेश दिया तो दूसरी ओर "प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्त्वतो निर्विविदे विदाम्वरः।" का दृष्टान्त भी प्रस्तुत किया। वे योगिराज बने। उन्होंने स्वयं अपने कर्मों को अपनी समाधि की अग्नि से भस्म कर दिया। उन्हें ब्रह्म संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा। उनका क्षत्रिय शब्द सार्थक था। उन्होंने जैसी वीरता लौकिक कर्म में दिखाई, वैसी ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी। वे सागरवाससा वसुधा वधू के पति थे तो उन्होंने मोक्षलक्ष्मी का भी वरण किया था। उन्होंने इस भूमि पर जीना सिखाया, तो मोक्ष तक पहुँचने का मार्ग भी उन्होंने ही दर्शाया था। वे इस पृथ्वी के अधिराट् थे तो कैवल्यपति भी वे ही थे।

ऋषभदेव के सौ पुत्र थे और दो पुत्रियाँ--ब्राह्मी और सुन्दरी। भरत को राज्यश्री सौंप कर ऋषभदेव प्रव्रजित हो गये। चलते समय उन्होंने कहा कि— "हमारा यह पुत्र प्रजाओं के पालन-पोषण में समर्थ प्रमाणित होगा।" वह सिद्ध हुआ, यहाँ तक कि भरत शब्द 'प्रजाओं के भरण-पोषण' अर्थ में रूढ़ हो गया और 'भरणात् पोषणाच्च'[2] कहा जाने लगा। महात्मा तुलसीदास ने तो उस व्यक्ति को भरत के समान कहा, जो संसार का, सुचारु ढंग से 'भरण-पोषण' करता है। उनका कथन है, "विस्व भरणपोषण कर जोई। ताकर नाम भरत-अस होई।"[3] भरत की चिरस्मृति में इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। अर्थात् नाभि के पौत्र भरत उनसे भी अधिक प्रतापवान थे। तभी तो 'अजनाभवर्ष' भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भरत चक्रवर्ती थे, उन्होंने दिग्विजय कर षट्खण्डों को जीता था। जगह-जगह उनके विजयध्वज फहराते थे। वृषभाचल पर बहत्तर जिन चैत्य उनकी विजय के अमरचिह्न थे। उनके उत्तुंग शिखर; जैसे भरत के ही मानस्तम्भ थे। गन्धर्व-बालाएँ उनके गुण गाती थीं, इन्द्रसभा के नृत्य और लय उन्हीं की विजयतानों से ओत-प्रोत थे। वेत्रवती के तट पर सिद्धवधुएँ उन्हीं का वीणावादन करती थीं। इस अपार वैभव, यश और गरिमा से घिरे भरत वैरागी थे–नितांत वैरागी। उनका मन अनासक्त था। यही कारण था कि दीक्षा के लिए अंगरखे की गाँठ खोलते ही उन्हें केवलज्ञान हो गया। वे राजा होते हुए भी मुनि थे, रागों के मध्य

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास : औपनिषद् धारा, पृष्ठ 180.

२. मत्स्यपुराण 114/5-6

३. रामचरितमानस 1/197/7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी वीतरागी थे, संसार के बीच भी मोक्षगामी थे और वे आसक्तियों के घिराव में भी अनासक्त थे। उन्होंने एक ओर कर्म साधा तो दूसरी ओर अध्यात्म। वे सही अर्थों में पुरुष थे। पौरुष के धनी। इहलोक उनका था, परलोक भी उनका ही बना। वे भारत माँ के अमरपुत्र थे। काश, भारत के महाराजाओं ने उनका अनुकरण किया होता, तो राज्यतन्त्र भी प्रजातन्त्र होता और उनकी उज्ज्वल गाथायें स्वर्णाक्षरों में लिखी जातीं।

ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रों को नाना कलाओं और विद्याओं में निष्णात बनाया। सभी योग्य बने। पौरुष तो जैसे साक्षात् हो उठा था। वे क्षत्रिय थे तो 'त्राण सहः' उनका जीवन था। वे कर्म और अध्यात्म के सन्धिस्थल पर तेज-पुञ्ज-से दमकते रहे। 'प्रबुद्धतत्त्वः' ही उनका जीवनलक्ष्य था, जिसे उन्होंने वीरता-पूर्वक प्राप्त किया। ऋषभदेव की पुत्रियाँ भी सौ-सौ पुत्रों से अधिक पूतशीला थीं। शील और सौन्दर्य तो जैसे उनमें साक्षात् ही हो उठा था। वे शिवरूपा थीं। उचित वय में भगवान् ने उन्हें भी शिक्षित बनाया। ब्राह्मी बड़ी थी और सुन्दरी छोटी। दोनों के अंगों से स्वर्णरेणु के समान कांति विकीर्ण होती थी। जगद्गुरु ऋषभदेव ने दोनों के विनय, शील आदि को देखकर विचार किया कि यह समय इनके विद्या-ग्रहण का है, अतः उन्होंने दोनों को सिद्धमातृका के साथ-साथ अक्षर, गणित, चित्र, संगीत आदि का ज्ञान कराया। भगवज्जिनसेनाचार्य के महापुराण[१] में लिखा है कि ऋषभदेव ने दाहिने हाथ से लिपि और बायें हाथ से अंकों का लिखना सिखाया। यही कारण है कि लिपि बायें से दायीं ओर और अंक दायें से बायीं ओर चलते हैं। भगवती सूत्र[२] के एक प्रकरण में लिखा है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को लिपिज्ञान दिया, अतः उसी के नाम पर लिपि को भी ब्राह्मी कहने लगे और 'ब्राह्मी लिपि' नाम प्रचलित हो गया। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मी और लिपि एकरूप हो गई थी। दोनों में तादात्म्य हो गया था। यह तभी सम्भव है, जब ब्राह्मी ने लिपि के साथ एकनिष्ठता साधी हो। एकनिष्ठता, एकाग्रता और योग पर्यायवाची हैं। अर्थात् ब्राह्मी साधिका थी, जिसने लिपि पर ध्यान केन्द्रित किया था। सच तो यह है कि इक्ष्वाकुवंश साधकों का था, योगियों का था, महामानवों का था, जिन्होंने जगत को एक नये साँचे में ढाला, तो अध्यात्म के पुरस्कर्त्ता भी बने। उसकी बेटियाँ भी साधना की प्रतीक थीं। जिस ब्राह्मी के पितामह नाभि के नाम पर, यह देश अजनाभवर्ष और ज्येष्ठ भ्राता भरत के नाम पर भारतवर्ष कहलाया हो तथा जिसके पिता श्रमणधारा के प्रवर्त्तक बने हों, यदि उसके नाम पर लिपि भी ब्राह्मी संज्ञा से अभिहित हो उठी हो, तो आश्चर्य क्या

---

१. महापुराण 16/97, 102.

२. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग 2, पृष्ठ 1126.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। सब कुछ वंशानुरूप था। इस वंश की विशेषता थी कि जिसने जो साधा तद्‌रूप हो उठा। अर्थात् दोनों एक हो गये। संज्ञा-भेद मिट गया। साधना साधक से कृतार्थ हुई और साधक साधना सिद्ध कर गौरवान्वित हुआ। दोनों एक-दूसरे के पूरक थे, अब द्वैध मिट गया। दीपक और बत्ती का पृथक्त्व ही चुक गया। बच गई केवल लौ—एक प्रकाश। आज भी उससे सब प्रकाशवन्त हैं। उसका नाम है—ब्राह्मी लिपि।

ब्राह्मी के दूसरे भाई थे, बाहुबली। बलिष्ट लम्बी काया, आजानुबाहु, वृषभ-स्कन्ध और कामदेव-से सुन्दर। भरत-बाहुबलि-युद्ध प्रसिद्ध है। जीत कर भी जिसने अपने अग्रज भरत को ही प्रतिष्ठा दी और स्वयं दीक्षा ले तप साधा। उनके नाम पर विपुल साहित्य रचा गया, तो उनकी प्रतिमाएँ भारतीय संस्कृति और कला की गौरवपूर्ण थाती हैं। उन बाहुबलि को ऋषभदेव ने पूरा पश्चिमोत्तर प्रदेश बँटवारे में दिया था। उसमें पंजाब, सिंध, काश्मीर, बिलूचिस्तान, अफगानिस्तान आदि आज के देश शामिल थे। ब्राह्मी का अधिकांश जीवन यहाँ ही व्यतीत हुआ। कल्पसूत्र १, अधि. ७ क्षण में लिखा मिलता है कि—"सा च बाहुबलिने भगवता दत्ता प्रव्रजिता प्रवर्तिनी भूत्वा चतुरशीतिपूर्वं शतसहस्त्राणि सर्वाय्युः पालयित्वा सिद्धा।" ऐसे पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं कि ब्राह्मी दीक्षा लेकर साध्वी हो गई थी। साध्वी ही नहीं, उनकी अग्रणी बनी थी। उसने तप तपा था। पश्चिमी भूभाग ही उसकी तपोभूमि थी।

गद्दियारों के केन्द्रस्थान भरमौर से एक मील ऊँचाई पर काष्ठ का बना एक देवी-मन्दिर है। उसमें अधिष्ठित प्रतिमा ब्रह्माणी देवी की मानी जाती है। वहाँ के निवासियों का कथन है कि यह पूरा क्षेत्र उसी देवी का पूजा-क्षेत्र था। अब यह निश्चय हो गया है कि यह ब्रह्माणी देवी और कोई नहीं, ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ही थी। यदि काष्ठ मन्दिर के नीचे खुदाई हो तो बहुत कुछ ऐसा मिल सकता है, जिससे वहाँ ऋषभदेव और बाहुबलि के समय से प्रवाहित श्रमणधारा की कड़ी सिन्धु घाटी के पुरातात्त्विक अवशेषों से जुड़ जायेगी। फिर भी वहाँ एक वेदी तो ऐसी मिली ही है, जिसकी पुष्पमय चित्रकारी को कनिंघम ने पूर्णविश्वास और प्रामाणिकता के साथ जैन कहा है।[1] सम्राट सिकन्दर ने ३२६ ई. पू., रावी के तट पर जैन साधुओं को देखा था,[2] यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, अनेक इतिहास ग्रन्थों में लिखा मिलता है। सिन्धुघाटी की सभ्यता श्रमण संस्कृति की प्रतीक है, इसे प्रसिद्ध पुरातत्वविद् मानते हैं। तो वह पूरा क्षेत्र ही कभी श्रमणधारा का प्रतीक था और फिर भरमौर की देवी भी ब्राह्मी थी, ऐसा माना जा सकता है।

1. Cunningham, A. S. R. XIV, P. 112.
2. Kausambi D.D, An Introduction to the study of Indian History, Bombay, 1959, Page 180.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ब्राह्मी का अधिवास था। वहाँ ही उसने साधना साधी, तप तपा, पूजी गई, लोक-ख्याति प्राप्त की। लोक-ख्याति से स्पष्ट है कि उसने लोक-लोक को समझा था। शायद इसी कारण उसने लिपि के १८ ढंग बनाये और उन्हें यथा-स्थान प्रचलित किया। अठारह लिपियों का सब-से-पुराना सूत्र जैन ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। मैंने प्रासंगिक रूप से उनका विवेचन किया है। श्रमणधारा ने लोक-रुचि को सब-से-अधिक प्रश्रय दिया। ब्राह्मी ने जिन अठारह लिपियों का सृजन किया था, वे लोकानुरूप थीं। आगे चलकर वे ही भारत की अठारह भाषाओं का आधार बनीं। तीर्थंकर महावीर ने उन सब को अर्द्ध मागधी में संगर्भित किया था।

अर्द्धमागधी वह भाषा थी, जिसमें आधे शब्द मगध के और आधे शब्द अठारह भाषाओं के थे। यही वह भाषा थी, जिसे भारत के हरभाग के और हर जाति के लोग समझते थे। यही वह भाषा थी, जिसके माध्यम से श्रमण साधु जनमानस तक पहुँचते थे और उन्हें अपना बना लेते थे। भाषा के क्षेत्र में यह एक वैज्ञानिक क्रान्ति थी और उसके जनक थे तीर्थंकर महावीर। तत्त्वार्थवृत्ति में लिखा है, "अर्द्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं अर्द्धं च सर्वदेशभाषात्मकम्।"[१] अठारह भाषाएँ 'सर्वदेशभाषात्मकम्' की प्रतीक ही थीं। यहाँ तक ही नहीं, एक स्थान पर तो 'सर्वनृभाषा और बहूश्च कुभाषा:' के अन्तरनेष्ट होने की बात भी लिखी मिलती है। वह श्लोक है—

> "एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा:
> सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषा:।
> अप्रतिमर्त्तिमपास्य च तत्त्वं
> बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना॥"

म. पु. २३/७०

आज भी भारत को ऐसी सार्वभौम भाषा की आवश्यकता है। वैसे श्रमणधारा अपने प्रारम्भ से ही लोक-रुचियों में प्रवाहित होती रही है। उसी का परिणाम थीं अठारह लिपियाँ और उनकी सूत्रधार थी ब्राह्मी। वह अर्द्धमागधी भाषा, जिसे सुर और असुर, आर्य और अनार्य, वनौकस और नागरिक सभी समझते थे, ब्राह्मी लिपि और उनके अष्टादश भेदों में लिखी जाती थी।[२] अत: यह कहना कि भारतीयों को लिपिज्ञान ईसा से केवल पांच सौ वर्ष पूर्व हुआ, अनुचित है।

---

१. देखिए पं. मन्हेंद्रकुमार न्यायाचार्य-सम्पादित तत्वार्थवृत्ति, प्रस्तावना.

२. "भगवं च ण अद्धमागही ए भासाए धम्मं आइक्खइ। सा वि यणं अद्धमागही भासा भासिज्ज-माणी तेसिं सव्वेसिं आरियं-अणारियाणं दुप्पय-चौप्पयमियपसुपक्खिसरी सिवाणं अप्पणो हियसिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ।"

समवायांगसुत्त ९४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिन्धुघाटी की खुदाइयों में मिली कायोत्सर्ग योगियों की मूर्त्तियों पर खुदी लिपि उनके कथन को एक सशक्त चुनौती है, जिसका कोई उत्तर नहीं है।

सिन्धुघाटी की लिपि और बड़ली, पिप्रावा तथा अशोक के शिलालेखों की लिपि में केवल समय का अन्तराल है। समय बहुत बदल देता है। बदलाव ही गति है। गति जीवन है। उसका रुकना ही मौत है। तो, परिवर्त्तन हुआ। ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व और दो सहस्र वर्ष पूर्व में पन्द्रह सौ वर्ष का अन्तर है। परिवर्त्तन स्वाभाविक था। कुछ ऐसा शेष रह गया, जो दोनों को एक वंश का बताने में समर्थ है। डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि मोहन-जो-दरो-लिपि के कुछ चिह्न ब्राह्मी वर्णों के सदृश हैं अथवा लगभग वही हैं। इसके अतिरिक्त व्यञ्जन वर्णों में स्वरमात्राओं के लगाने की ब्राह्मी-विशिष्टिता भी मोहन-जो-दरो-लिपि में प्राप्त होती है।[1] डॉ. उदयनारायण तिवारी का तो स्पष्ट अभिमत है कि ब्राह्मी लिपि का प्राचीन रूप सिन्धु घाटी लिपि में उपलब्ध होता है। सिन्धु घाटी लिपि ही चित्र, भाव तथा ध्वन्यात्मक रूपों से गुजरती हुई ब्राह्मी लिपि में परिणत हुई थी।[2] अतः ओझा जी का यह कथन कि "प्राचीन शिलालेख अथवा साहित्य, जहाँ भी ब्राह्मी दिखाई दी, अपनी प्रौढ़ अवस्था और पूर्ण व्यवहार में आती हुई मिली। उसके प्रारम्भिक विकास का पता नहीं चलता,"[3] सुसंगत प्रतीत नहीं होता। उसका प्रारम्भिक रूप सिन्धुघाटी लिपि में सुरक्षित है।

ब्राह्मी सार्वभौम थी, ऐसा अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने कहा कि, "यदि कोई एक ब्राह्मी लिपि को अच्छी तरह सीख जाये, तो वह अन्य लिपियों को थोड़े ही परिश्रम से सीख सकता है और शिलालेख आदि को पढ़ सकता है, क्योंकि सारी लिपियाँ ब्राह्मी से ही उद्‌भूत हुई हैं।"[4] दक्षिण की द्राविड़ी लिपियाँ, जो जावा-सुमात्रा तक फैली थीं, ब्राह्मी से ही निकलीं। यदि ऐसा न होता तो सम्राट अशोक दक्षिण में अपने शिलालेखों को ब्राह्मी में न खुदवाता। दक्षिण भारत के अनेक प्राचीन ग्रन्थों में लिखा मिलता है कि ब्राह्मी ऋषभदेव की बड़ी पुत्री थी। उसी ने अठारह प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया, जिनमें-से एक लिपि कन्नड़ हुई। श्रीरामधारीसिंह दिनकर ने इस मान्यता को पल्लवित किया है। श्री सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ ने

---

१. देखिए, 'Indian systems of writing', Govt of India, 1966, Page 9.

२. हिन्दी भाषा : उद्‌गम और विकास, पृष्ठ 580.

३. प्राचीनलिपिमाला.

४. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन सम्पादित गंगा-पुरातत्त्वांक, 1933, भारतीयों का लिपिज्ञान शीर्षक निबन्ध.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'कन्नड़ साहित्य के नवीन इतिहास' (पृष्ठ ६) में स्पष्ट रूप से लिखा है कि ब्राह्मी लिपि की वही शाखा, जिससे कन्नड़ लिपि निकली है, दक्षिण में सिंहल तथा पूर्व में सुदूर जावा तक जा पहुँची। तमिल लिपि ब्राह्मी की दूसरी शाखा से निकली, अतः कन्नड़ तथा तेलुगु लिपि से भिन्न है। उनका यह भी कथन है कि—यों तो ब्राह्मी लिपि से निकली होने के कारण भारत की तथा एशिया की अन्य सभी लिपियों में कुछ समानताएँ हैं।

काव्यतीर्थजी ने एशिया तक की वात तो की, किन्तु न जाने क्यों विश्व की बात न कह सके, तो विश्व वालों ने ठीक उलटा कहा कि ब्राह्मी सामी लिपि से निकली है। उनके अपने तर्क हैं, और सोचने की अपनी दिशा है। उनका कथन है कि सेमेटिक और आरमेनियन लोगों ने सब-से-पहले भारत से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये और उनके माध्यम से ही भारतीयों को अक्षरज्ञान हुआ। दूसरी ओर जैन ग्रन्थों की अकाट्य साक्षी है कि यायावर श्रमण मुनि भाषा और लिपि को एक युग से दूसरे युग तक और एक देश से दूसरे देश तक पहुँचाते रहे हैं। श्री सत्येकेतु विद्यालंकार ने 'भारत का इतिहास' ग्रन्थ में पृष्ठ ११८ पर लिखा है, "सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था। उसने जैन धर्म के प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया और देश-विदेश में जैन साधुओं को धर्मप्रचार के लिए भेजा।" बौद्ध महावंश के "तं दिस्वान पलायंत्त निगण्ठो गिरि नाम को ।।२।। अ. ३३" से स्पष्ट है कि सम्राट सम्प्रति के समय में दिगम्बर मुनियों ने सीलोन में धर्मप्रचार किया था। पं. सुन्दरलाल ने 'हजरत ईसा और ईसाई धर्म' में लिखा है, "पश्चिमी एशिया, यूनान, मिश्र और इथियोपिया के पहाड़ों और जंगलों में, उन दिनों हजारों जैन संत महात्मा जा-जा कर जगह-जगह बसे हुए थे, ये लोग बिलकुल साधुओं की तरह रहते और अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए मशहूर थे।"[१] यहाँ तक ही नहीं, हजरत ईसा के भारत आने और जैन साधुओं से सम्पर्क की बात अत्यधिक प्रसिद्ध हो गई है। सब-से-पहले रूसी पर्यटक नोटोविच ने तिब्बत के हिमिन मठ से प्राप्त पालिभाषा के एक ग्रन्थ के आधार पर लिखा कि—ईसा भारत तथा भोट देश आकर अज्ञातवास में रहे और उन्होंने जैन साधुओं के साथ साक्षात्कार किया।[२] अब आचार्य रजनीश ने 'महावीर मेरी दृष्टि में' शीर्षक ग्रन्थ में इस बात को नाना प्रामाणिक युक्ति संगत तर्कों से सिद्ध किया है। श्री अक्षयकुमार जी के एक धारावाहिक निबन्ध से इसकी महत्त्वपूर्ण पुष्टि हुई है। इसके अतिरिक्त, ईसा से भी पूर्व ३२६ में सम्राट सिकन्दर यहाँ से एक जैन साधु को अपने साथ यूनान ले गया था, यह एक इतिहास-प्रसिद्ध बात है।[3] श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

---

१. पं. सुन्दरलाल, 'हजरत ईसा और ईसाई धर्म,' पृष्ठ 22.

२. हिन्दी विश्वकोष, तृ. भा., श्री नगेन्द्रनाथ वसु सम्पादित, पृष्ठ 128.

3. 'The life of the Budha, by E· I. Thomas, 1927,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने महावीर के तीर्थंकाल को, पश्चिम के अरस्तू और चीन के शुइन-त्सू के सिद्धान्तों का मध्यस्रोत तथा पायथेगोरस और कन्फ्यूशस की विचार-क्रान्ति का मिलन-स्थल माना है।[1] यह बात विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर के सिद्धान्त उनके तीर्थंकाल में पूर्व से पश्चिम तक प्रसृत हुए। अवश्य ही श्रमण साधुओं का यायावर विशेषण इस प्रसार का साधक बना होगा।

व्यापारी आता है व्यापार करने, भाषा अथवा अक्षर-ज्ञान देने नहीं। उसका मूल उद्देश्य व्यापार है। उसे सिद्ध करने के लिए भाषा और कुछ अक्षरों का आदान-प्रदान हो जाता है, तो वह स्वाभाविक ही है। उसमें योगदान दोनों तरफ का समान होता है, उसे एकतरफा मान लेना नितांत असंगत है। किन्तु, धर्म-प्रचार एकतरफा ही होता है। श्रमण साधुओं के पास अपने सिद्धान्त थे, अपनी भाषा और अपनी लिपि। दूसरों को ज्ञान प्रदान करने में निपुण होने ही के कारण उन्हें उपाध्याय और आचार्य कहा जाता था। तो, बात यही अधिक जंचती है कि इन यायावर साधुओं ने ज्ञान के साथ-साथ लिपिज्ञान भी उन-उन देशों को दिया, जहाँ वे गये। शायद इसी कारण महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भले ही इन साधुओं को 'घुमक्कड़' शब्द से सम्बोधित किया हो, किन्तु उन के भिन्न-भिन्न देशों में जाने और ज्ञान, भाषा तथा लिपि प्रदान करने की बात स्वीकार की है। पहल भारत ने की, यह असंदिग्ध रूप से सत्य है।

सेमेटिक (फोनेशिया) और आरमेनियन (दक्षिण अरबी) दोनों पश्चिमी एशिया से सम्बन्धित हैं। किसी समय यह भू-भाग ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत था। डॉ. हीरालाल जैन का अभिमत है कि प्राचीन काल में भारत और ईरानी जनसमूह एक परिवार था और वह एक-सी बोली बोलता था। उन्होंने 'जसहरचरिउ' की भूमिका में लिखा है, "उससे (वेदों से) पुराने शब्द रूप उस काल के मिलते हैं, जब भारतीय और ईरानी जनसमाज पृथक् बोली बोलता था। यह बात वैदिक और प्राचीन ईरानी और पारसियों के प्राचीन धर्मग्रन्थ अवेस्ता की भाषाओं के मिलान से स्पष्ट हो जाती है। यही नहीं, पश्चिम एशिया के भिन्न-भिन्न भागों से कुछ ऐसे लेख भी मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि उस काल में अपने आज के अनेक सुप्रचलित नामों व शब्दों का हिन्द-ईरानी समाज कैसा उच्चारण करता था। जिन देवों को हम आज सूर्य, इन्द्र और वरुण कहते हैं, उन्हें हिन्द-ईरानी समूह सुरिअस्, इन्तर और उरुवन् कहते थे।"[2] इस प्रकार भारत और पश्चिमी दो पृथक् जनसमूह नहीं

---

१. भिक्षु अभिनन्दनग्रन्थ, लक्ष्मीचन्द जैन का निबन्ध 'भारतीय लोकोत्तर गणित-विज्ञान के शोध पथ', पृष्ठ 225.

२. जसहरचरिउ, द्वि. सं., हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, 1972, प्रस्तावना— डॉ. हीरालाल जैन लिखित, पृष्ठ 29-30.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे। अतः उनका आदान-प्रदान भी अगर हुआ, तो वह घर के भीतर का था। उसे एक का दूसरे पर प्रभाव नहीं माना जा सकता।

प्रभावक अधिक सशक्त होता है अपेक्षाकृत प्रभाव्य के। उसमें कुछ ऐसी ऊर्जा, ऐसी गरिमा और ऐसी प्रदीप्ति होती है, जिससे प्रभाव की किरणें फूटती हैं और आस-पास का वातावरण प्रदीप्त हुए विना नहीं रहता। वह उसके रंग में रंग जाता है। इस सब को आज की भाषा में वैज्ञानिक कहा जा सकता है। ब्राह्मी लिपि पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। उसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए निश्चित चिह्न हैं। घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण और अनुनासिक–सभी प्रकार की ध्वनियों के लिए लिपि-चिह्न निर्धारित हैं। ध्वनि तथा उसके प्रतीक चिह्न के उच्चारण में यत्किञ्चित् भी अन्तर नहीं है। इससे स्पष्ट है कि इस लिपि के निर्माता भाषा शास्त्र और ध्वनि शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इस सन्दर्भ में डॉ. वासुदेव उपाध्याय का एक कथन दृष्टव्य है, "यह व्यक्त करना अत्यावश्यक है कि वैज्ञानिक रूप में ब्राह्मी में प्रत्येक अक्षर ध्वन्यात्मक चिह्न है। लिखने तथा बोलने में समता है, यानी जो लिखते हैं, उसी के समान उच्चारण भी करते हैं। इसमें स्वर और व्यञ्जन के चौंसठ चिह्न हैं। ह्रस्व तथा दीर्घ के पृथक्-पृथक् चिह्न वर्त्तमान हैं तथा मध्य में स्थित चिह्न से स्वर-व्यञ्जन का मेल होता है। अ सभी व्यञ्जनों में निहित तथा अन्तर्वर्त्ती है। इस प्रकार ब्राह्मी वैज्ञानिक लिपि है, जिसमें एक क्रम है। इन सबल प्रमाणों के सम्मुख सेमेटिक जैसी अनियमित और अवैज्ञानिक लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति कैसे मानी जा मानी जा सकती है।"[१] सेमेटिक और आरमइक में सब-से-बड़ी कमी है कि उनमें ध्वनि के अनुरूप अक्षर नहीं हैं। दीर्घस्वर का नितांत अभाव है। कहाँ वह और कहाँ ब्राह्मी। इस परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मी प्रभावक और सामी प्रभाव्य हो सकती है।

जैन आचार्यों ने 'अ' वर्ण का "अकारं चन्द्रकान्ताभं सर्वज्ञं सर्वहितंकरम्" कह कर जैसा महत्त्व प्रतिपादित किया है, अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। उन्होंने उसे पुराण-पुरुषोत्तम 'आदि भगवान्' के समान कहा है और इसे अपने बीजमन्त्र का आदि अक्षर कह कर दिव्य शक्ति का प्रतीक माना है। इसके उच्चारण के साथ जो चित्र मन में उभरता है, उससे वीजमन्त्र शक्ति-सम्पन्न वन पाता है। जैन आचार्यों ने वर्णमातृका के इस आदि अक्षर 'अ', मध्य अक्षर 'र', अन्तिम अक्षर 'ह' और विन्दु तथा नाद से जिस 'अर्हम्' वीजमन्त्र की रचना की है, वह परमात्म रूप है, परमसत्ता का प्रतीक है। उसमें पंचपरमेष्ठी का निवास है। वह नवकार मन्त्र के समूचे व्यक्तित्त्व को व्याप्त किये हुए है। मन्त्रों की रचना वर्णों

१. डॉ. वासुदेव उपाध्याय, 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन', पृष्ठ 250.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से होती है। किन्तु यह मन्त्र समूची वर्णमाला का संक्षिप्त रूप तो है ही, योगियों के ध्यान का अनुभूत तत्त्व भी है। वह एक ओर द्रव्य लिपि को उजागर करता है, तो दूसरी ओर भावलिपि को भी केन्द्रित करता है। इसी कारण वह बीजमन्त्र है। रामसेनाचार्य-प्रणीत तत्त्वानुशासन में लिखा है, "आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति। हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येयं तदर्हताम्?"[१] ।। इसका अर्थ है कि –"अपने आदि, मध्य और अन्त में (प्रयुक्त अ-र्-ह अक्षरों-द्वारा) जो वाङ्मय को—वाणी या वर्णमाला को व्याप्त करता है, वह अर्हन्तों का वाचक 'अर्हम्' पद है। वह हृदय में ऊँची उठती हुई ज्योति के रूप में नामध्येय है।" सहस्र-सहस्र योगियों ने इस अक्षर ब्रह्म को अपने हृदय-स्थल में ऊर्ध्व-ऊर्ध्व गमन करती ज्योति के रूप में ध्यान का विषय बनाया है। उसको प्रणाम करते हुए एक आचार्य ने लिखा,

"अर्हमित्यक्षरब्रह्मवाचकं परमेष्ठिनः ।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहम् ।।"[२]

अर्थ–परमेष्ठी के वाचक 'अर्हम्' इति अक्षरब्रह्म को सिद्धचक्र का सद्बीज भी बतलाया गया है। मैं उसे हर प्रकार से प्रणाम करता हूँ।

अर्हम् परमब्रह्म का वाचक है। इसमें 'अ' अक्षर अमृतमूर्त्ति के रूप में स्थित सुख का प्रतीक है। स्फुरायमान रेफ अविकल रत्नत्रय रूप है, अर्थात् सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्रतिमूर्त्ति है। 'ह' अक्षर मोह-युक्त समूचे पाप-समूह के हंता रूप में प्रतिष्ठित है, अर्थात् 'ह' से समृचे पाप विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अभिन्नाक्षर पद के रूप में यह बीजाक्षर स्मरणीय है। इस पद के अ और ह अक्षरों के मध्य में वर्णमाला के शेष सब अक्षर वास करते हैं। और इसी से मुनियों ने इसे अनघ शब्दब्रह्मात्मक बताया है। इसमें बिन्दु और नाद अर्धचन्द्रकला से युक्त सकिरण ज्योति पद के द्योतक हैं और 'म' अन्तर-ध्वनि को अभिव्यक्त करने वाला है। यह पूरा पद परं-ब्रह्म-सिद्ध परमात्मा के ध्यान की अनुभूति कराता है। अर्हम् के महत्त्व को योगशास्त्र में रहस्यमय निरूपित किया गया है। अर्हम् का यह विवेचन कुमार-कवि के आत्मप्रबोध में मिलता है। उनके मूल श्लोक इस प्रकार हैं—

"अकारोऽयं साक्षादमृतमयमूर्त्तिः सुखयति ।
स्फुरद्रेफो रत्नत्रयमविकलं संकलयति ।।
समोहं हंकारो दुरितनिवहं हंति सहसा ।
स्मरेदेवं बीजाक्षरमभिन्नाक्षर पदम् ।।११८।।

---

१. तत्त्वानुशासन, जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, 1963 श्लोक 101, पृष्ठ 100.

२. देखिए वही, पृष्ठ 100.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दधति वसति मध्ये वर्णा अकार-हकारयो--
रिति यदनघं शब्दब्रह्मास्पदं मुनयो जगुः ।
यदमृतकलां विभ्रद्विन्दूज्ज्वलां रचितर्चिषं
ध्वनयति परंब्रह्म ध्यानं तदस्तु पदं मुदे ॥११९॥"

अकार से हकार पर्यन्त जो मन्त्ररूप अक्षर हैं, वे अपने-अपने मण्डल को प्राप्त हुए परम शक्तिशाली ध्येय हैं और दोनों लोक के फलों को देने वाले हैं। यहाँ "अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्। अयोग्यः पुरुषः नास्ति, संयोजकस्तत्र दुर्लभः ॥" पूर्ण रूप से चरितार्थ हुआ है। यह सत्य है कि ऐसी कोई मूल (जड़) नहीं, जो औषधि के काम न आती हो और कोई ऐसा अक्षर नहीं जो मन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित न हो सके। किन्तु, जिस प्रकार प्रत्येक मूल (जड़) से औषधि का काम लेने वाला दुर्लभ है, उसी प्रकार प्रत्येक अक्षर की मन्त्र-रूप में योजना करने वाला भी दुर्लभ है। 'योजकस्तत्र दुर्लभः' ठीक ही है। इस सन्दर्भ में मुनिश्री नथमल का एक कथन दृष्टव्य है, "एक कालिदास संस्कृत का कवि है और दूसरा अन्य कोई साधारण कवि। क्या अन्तर पड़ता है कालिदास में और दूसरे में। अन्तर कुछ नहीं है, सिर्फ वर्णों के विन्यास का होता है। जो शब्दों की योजना करने में समर्थ होता है, वह उनमें प्राण भर देता है। जो प्राण भरने में निपुण नहीं होता, वह प्राण भरने के स्थान पर कभी-कभी प्राण हर भी लेता है।"[१] इससे स्पष्ट है कि हमारे आचार्य और साधु ब्राह्मी लिपि के अक्षरों और वर्णों का संयोजन करने में निपुण रहे हैं। उन्होंने सावधानता बरती है। यही कारण है कि हमारा वर्णविन्यास यदि एक ओर वैज्ञानिक बन पड़ा है, तो दूसरी ओर भाव रूप में भी जप, संकल्प और मन्त्र को साध सका है और श्रीमद् भगवद्गीता के शब्दों में सच्ची "ब्राह्मी स्थिति" तक पहुँच सका है।

उसी समय, एक दूसरी समुन्नत लिपि और थी। उसका नाम था खरोष्ठी। यह दायें से बायें लिखी जाती थी। इसके अवशेष एक ओर पश्चिमोत्तर प्रदेश से मथुरा तक, तो दूसरी ओर मध्य एशिया तक मिलते हैं। इसका प्राचीनतम पुरातात्त्विक लेख अशोक से तीन सौ ई. पूर्व के एक शिलालेख में प्राप्त हुआ है। मध्य एशिया से प्राप्त शिलालेख दो सौ ईसवी पूर्व के हैं। ग्रन्थ रूप में इसका प्राचीन नमूना खोतान से मिली धम्मपद की हस्तलिखित प्रति है। प्राचीन जैन-ग्रन्थों—भगवतीसूत्र, आवश्यकचूर्णि, समवायांगसूत्र आदि में अठारह लिपियों का विवेचन है। उनमें एक खरोष्ट्रिका है। मैंने

---

१. जागरिका, जैन विश्व भारती प्रकाशन, 1973, पृष्ठ 129.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने इस ग्रन्थ में सिद्ध किया है कि खरोष्ठी विशुद्ध भारतीय लिपि थी। उसका आधार हैं—सम्राट वृषभदेव। उन्होंने अपनी पुत्रियों को बायें से दायें लिखना सिखाया तो दायें से बायें भी।

ब्राह्मी का निवास पश्चिम में था और वह स्थान तथा लोक-रुचि का विशेष ध्यान रखती थी, ऐसा उसके जीवन से स्पष्ट ही है। हो सकता है कि उसने एक काम चलाऊ दैनिक लोक व्यवहार की लिपि के रूप में खरोष्ठी को जन्म दिया हो। बूलर और ओझा-जैसे विद्वानों ने खरोष्ठी को ब्राह्मी से प्रभावित स्वीकार किया है। जहाँ तक खरोष्ठी के नामकरण का सम्बन्ध है, खर + ओष्ठ (गधे का ओठ) जैसी व्युत्पत्ति, नितांत असंगत है। चीनी मान्यता कि इसका नाम किसी खरोष्ठ नाम के व्यक्ति पर रक्खा गया, सच प्रतीत होती है। मैंने वर्ण-विपर्यय के आधार पर वृषभोष्ठ > रिखवोष्ठ > खरोष्ठ स्वीकार किया है और उसके पीछे सम्राट ऋषभदेव की महत्त्वपूर्ण भूमिका का भी उल्लेख किया है। विद्वानों को यह नवीन-सा प्रतिभासित होगा, किन्तु जैन ग्रन्थों में वह पहले से सुरक्षित है।

अंक लिपि और गणित का जैसा समुन्नत विवेचन जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। 'अंकानां वामतो गतिः' का मूल साक्षी प्रमाण भी जैन ग्रन्थों में ही मिलता है। ऋषभदेव ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को, जो दाहिनी ओर बैठी थी, अंक लिपि की विद्या प्रदान की। वहाँ से ही वह दायें से बायीं ओर चली। अंकों का जन्म और विकास भारत में हुआ। भारत उनका जन्म स्थल है। ओझा आदि विद्वान् भारतीय मूल अंकों पर विदेशी प्रभाव की बात नहीं मानते। उनका स्पष्ट अभिमत है, "प्राचीन शैली के भारतीय अंक भारतीय आर्यों के स्वतन्त्र निर्माण किये हुए हैं।"[१] किन्तु उन्हें शून्य योजना के जन्मदाता का पता न चल सका, जिसने अंकों को नवीन शैली प्रदान की। वैसे वे यह मानते हैं कि—"नवीन शैली के अंकों की भी सृष्टि भारतवर्ष में ही हुई, फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश योरुप में हुआ।"[२] शायद इस सन्दर्भ में ओझा जी ने टोडरमल-रचित 'अर्थ संदृष्टि' नाम का ग्रन्थ न देखा होगा। इसमें उन्होंने ऋण-प्रतीक के लिए पाँच चिह्नों का प्रयोग बतलाया है, उनमें एक शून्य भी है। वहाँ उसका विशद विवेचन है। श्री लक्ष्मीचन्द जैन का अभिमत है कि—"अर्थ संदृष्टि सदृश ग्रन्थों के गहन अध्ययन से ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधारों

---

१. प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ 110.

२. देखिए वही, पृष्ठ 110.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को सुदृढ़ किया जा सकता है और भारत के उज्ज्वल अतीत पर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है।"[१] अर्थ संदृष्टि प्राचीन ग्रन्थों पर आधृत एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

"प्राकृत को काम में लाने के कारण जैन और बौद्ध अंकलिपि के उद्-भावक नहीं हो सकते।" बूलर का यह कथन कुछ अटपटा और तर्क-हीन सा लगता है। अंक और उस पर आवृत गणित का समुन्नत रूप जैन प्राकृत ग्रन्थों में ही सब-से-अधिक देखा जाता है। विद्वानों का कथन है कि इन प्राकृत ग्रन्थों में विवेचित गणित के आधार पर ही अनन्त, सलागागणन, कर्मबन्ध, द्रव्यक्षेत्रादि और मार्गणाओं का प्ररूपण किया जा सका। प्राकृत ग्रन्थों में अविभाग प्रतिच्छेद को इकाई रूप में लेकर यथार्थ अनन्तों का अल्प-बहुत्व संरचित किया गया है। जहाँ इटली में जीनो (४६० ई० पूर्व) का विभाज्यता-सम्बन्धी तर्क और चीन के हुईथिह (५ वीं सदी ई०पू०) का अक्षरभास अनन्त की गणना न कर सका, वहाँ जैन प्राकृत ग्रन्थों का गणित एक सिद्धान्त रूप में प्ररूपित हुआ। स्पष्ट है कि यदि प्राकृत अंकों के उद्भावन में बाधक होती, तो उनका ऐसा विकसित रूप प्राकृत ग्रन्थों में न मिलता। यदि महावीर का तीर्थकाल अपनी लोकोत्तर अवधारणाओं को लौकिक गणित के माध्यम से सिद्ध करने में समर्थ हुआ है, तो यह निश्चित है कि प्राकृत अंक विकास के लिए वरदान थी, अभिशाप नहीं।

जैन ग्रन्थों में लेख-सामग्री के प्रमाण बिखरे हुए हैं। मैंने उन्हें यथा सम्भव इस ग्रन्थ में देने का प्रयास किया है। फिर भी, बहुत कुछ ऐसा रह गया है, जिसे मैं नहीं संजो सका हूँ, ऐसा मुझे विश्वास है। मुनिश्री नथमल के ग्रन्थ 'जैन दर्शन, मनन और मीमांसा'[२] में 'पोत्थारा' के सम्बन्ध में नये सन्दर्भों का उल्लेख हुआ है। उन्होंने लिखा है कि 'राजप्रश्नीय सूत्र' में पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (कामी), मोंरा, गांठ, लिप्यासन (मषिपात्र), छंदन (ढक्कन), सांकली, मषि और लेखनी की चर्चा की गई है। प्रज्ञापना (पद१) में पोत्थारा शब्द आता है, जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक विज्ञान-आर्य। इसी में बताया गया है कि अर्द्धमागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते हैं। दशवैकालिक की हारिभद्रीया वृत्ति (पत्र २५) में पाँच प्रकार की पुस्तकें बतलाई गई हैं—गण्डी, कच्छवी, मुष्टि, संपुटफलक और सृपाटिका। निशीथचूर्णि में भी इनका उल्लेख है। अनुयोगद्वार का पोत्थकम्म (पुस्तक कर्म) शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रबल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ

१. भिक्षु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ 224-25.
२. मुनिश्री नथमल, जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, परिवर्द्धित संस्करण, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, 1973, पृष्ठ 85.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ताड़पत्र अथवा संपुटक पत्र-संचय और कर्म का अर्थ उसमें वर्तिका आदि से लिखना किया है। इसी सूत्र में आये हुए पोत्थकार (पुस्तककार) शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला' किया है। जीवाभिगम (३ प्रति ४ अधि.)के पोत्थार शब्द का भी यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर की पाठशाला में पढ़ने-लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। यद्यपि भारतीय वाङ्मय—चाहे जैन हो, बौद्ध अथवा वैदिक एक लम्बे समय तक कण्ठस्थ परम्परा में सुरक्षित रहा है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम उस समय लिखना नहीं जानते थे। जलवायु की विषमताओं के कारण लेख-पत्र भले ही नष्ट हो गये हों, किन्तु ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व का पुरातात्त्विक प्रमाण मोहन-जो-दरो और हरप्पा की खुदाइयों में प्राप्त हुआ है। उस पर उत्कीर्ण लिपि, लिपि तो है ही, भले ही आज उसे पढ़ने में हमारे मध्य विवाद हो।

लिपि संस्कार के समय बालक के मुख से एक ऐसे मंगल वाक्य का उच्चारण करवाया जाता था, जो आगे चल कर समूचे भारत की विरासत बना। वह वाक्य था—ओनामासी धम्म। संस्कृत में इसे 'ॐनमःसिद्धेभ्यः'। कहते हैं। इसका अर्थ है—सिद्धों को नमस्कार हो। यह श्रमण परम्परा का प्राचीन मंत्र वाक्य है। तीर्थंकर महावीर के पहले से चले आये चौदह पूर्वों में-से एक पूर्व था विद्यानुवाद[1]-मन्त्र विद्या का सशक्त ग्रन्थ। उसमें यह मन्त्र निबद्ध था। इसके उच्चारण से बालक का विद्याध्ययन निर्विघ्न पूरा होता था, ऐसी मान्यता थी। इसका प्रचलन केवल जैनों में ही नहीं, अपितु भारत के सभी सम्प्रदायों में था। श्रमण और ब्राह्मण के संघर्ष के होते हुए भी यह वाक्य बिना किसी भेदभाव के चलता रहा। वह सार्व-भौम बन सका, ऐसी उसमें क्षमता थी। भावात्मक एकता के लिए ऐसे सूत्रवाक्यों का अपना एक पृथक् महत्त्व होता है। यह प्रश्न उठाना कि यह सूत्र मूलतः श्रमणों का था अथवा ब्राह्मणों का और श्रमणों में भी जैनों का था अथवा बौद्धों का, एक व्यर्थ की बात है। वह सब का बन सका और लिपि संस्कार के समय बालक के द्वारा उसका उच्चारण मंगल माना गया, इतना ही पर्याप्त है। किन्तु, ऐसे प्रश्न उठे अवश्य होंगे, तभी तो यह पवित्र सूत्र भी आगे चल कर विद्वेष और विकृति का शिकार बना।

एक दूसरा वाक्य है—'कक्का रीतु केवलिया'। यह महाजनी मुण्डिया लिपि के बहीखातों में आज भी लिखा जाता है। कक्का बारहखड़ी का द्योतक है और 'केवलिया' केवली भगवान्, अर्थात् केवलज्ञान के धारक अर्हन्त का प्रतीक

---

१. कहा जाता है कि मुनि सुकुमारसेन (7 वीं सदी ईसवी) के विद्यानुशासन में, विद्यानुवाद की बिखरी सामग्री का संकलन हुआ है। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमे के शास्त्र भण्डारों में मौजूद है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। ये दोनों ही शब्द स्पष्ट रूप से जैन परम्परा के हैं और वहाँ से ही चले। बहीखातों का सम्बन्ध अंकलिपि से है। बीच-बीच में अक्षर-लिपि का भी प्रयोग करना पड़ता है। बहीखातों में लोगों के खाते आज भी वर्णानुक्रम से ही डालने का रिवाज है। वारहखड़ी के वर्णों के आधार पर जैन आचार्यों ने बड़े-बड़े आध्यात्मिक ग्रन्थों का निर्माण किया था। अ से ह तक के वर्णों में-से एक-एक को लेकर श्लोकों की सतत रचना करते जाना जैन आचार्यों की अपनी शैली थी। मैंने जयपुर के भण्डारों में पं० दौलतराम कासलीवाल का एक वृहत् काय हस्तलिखित ग्रन्थ—'अध्यात्म वारहखड़ी' देखा था। इस ग्रन्थ में वारहखड़ी के एक-एक वर्ण को लेकर अनेकानेक आध्यात्म परक पद्यों की रचना की गई है। यह हिन्दी का एक सरस ग्रन्थ है। ऐसे-ही-ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं, जो अपने हस्तलिखित रूप में भण्डारों में पड़े हैं। उनका सम्पादन और प्रकाशन होना ही चाहिए। तात्पर्य यह है कि जैन परम्परा अपने प्राचीन काल से ही ब्राह्मीलिपि और वर्णमातृका की परम भक्त रही है। उसके अंग-प्रत्यंग में इसके उद्धरण विखरे हुए हैं। वात प्रामाणिक है। वर्ण और अक्षरों का जैसा सैद्धान्तिक, तात्त्विक और भाषा वैज्ञानिक विवेचन जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, अन्यत्र नहीं। वर्णमातृका के चरणों में जैन मनीषियों की यह विनम्र श्रद्धाञ्जलि ही है।

जैनाचार्यो ने शब्दातीत की स्थिति, अचिंतन की भूमिका और निर्विचार की कोटि तक पहुँचने को निर्विकल्प तक पहुँचना कहा है। इसे वे मौन की सही स्थिति मानते हैं और इसे ही वाक्संवर अथवा वाक्संयम कहते हैं। किन्तु वे एक दूसरी वात और कहते हैं कि जो व्यक्ति वचन-शून्य है, वह निर्वचन तक नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार शब्द-शून्य शब्दातीत तक, वाक-शून्य निर्वाक् तक, चिन्तन शून्य अचिंतन तक और विचार रहित निर्विचार तक पहुँचने में असमर्थ है। इस प्रकार वे शब्द, वाक्, चिन्तन और विचार को भी समरूप से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वर्णों से शब्द वनते हैं और शब्दों से वाक्य, वाक् या वचन। भाषा वर्गणा और शब्द पर जैन-ग्रन्थों में गहराई से विचार किया गया है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द पौद्गलिक है, आकाशीय नहीं, जैसा कि कणाद आदि कतिपय नैय्यायिक मानते हैं। सांख्यदर्शन उसे आकाश का जनक कहता है। मीमांसक उसे नित्य मानते हैं, आकाश की भाँति उसकी सर्वत्र, सवदा सत्ता है, जब व्यञ्जक निमित्त मिलते हैं, तव वह हमारे श्रवण में आता है, अन्यथा नहीं। भर्तृहरि के अनुसार समस्त विश्व शब्दमय है। जैनाचार्य उसे भाषा वर्गणा के पुद्गलों का पर्याय कहते हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्त्तिक होता है, अतः शब्द भी मूर्त्तिक है। रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये सभी पुद्गल धर्म उसमें विद्यमान हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतना ही नहीं, उन्होंने शब्द की उत्पत्ति, शीघ्रगति और लोक-व्यापित्व आदि पहलुओं पर भी पूरा प्रकाश डाला है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में लिखा है कि सुघोषा घण्टा का शब्द असंख्य योजन की दूरी पर स्थित घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है। यह उस समय की बात है, जबकि रेडियो, वायरलेस आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था। शब्द क्षण-मात्र में लोक-व्यापी बन जाता है।

शब्द पुद्गल-स्कन्धों के संघात और भेद से उत्पन्न होता है। उसके भाषा, शब्द और नोभाषा शब्द आदि अनेक भेद हैं। बोलने के पूर्व, वक्ता भाषा परमाणुओं को ग्रहण करता है, फिर भाषा के रूप में उनका परिणमन करता हुआ अन्त में उत्सर्जन करता है।[1] ग्रहण और उत्सर्जन में केवल एक समय का व्यवधान होता है। जीव गृहीत भाषा-द्रव्यों को धारण करके रख नहीं सकता। जिस समय में ग्रहण करता है, उसके दूसरे ही समय में निसर्ग करना होता है। उत्सर्जन के द्वारा बाहर निकले हुए भाषा-पुद्गल आकाश में फैलते हैं। बाहर निकले शब्दों का वेग इतना तीव्र होता है कि एक ही समय में वे लोक के अन्त तक जा पहुँचते हैं। बिजली की तरह लपलपाती शब्दों की तीव्रगति आज ध्वनि यन्त्रों पर साक्षात् की जा सकती है।

शब्द में पदार्थ की बोधक शक्ति निसर्गज होती है, अर्थात् प्रत्येक शब्द विश्व के समस्त पदार्थों का प्रतिपादन करने में समर्थ है। घट शब्द जैसे कलश का वाचक है, वैसे ही वह वस्त्र, पुस्तक, टोपी आदि का भी वाचक हो सकता है, किन्तु मनुष्य ने शब्द की इस वाचक शक्ति को संकेत के द्वारा सीमित कर दिया है। अतः संकेत प्रणाली के द्वारा ही शब्द अपने वाच्य का प्रतिपादक होता है। नैय्यायिक शब्द की सहज अर्थ-प्रकाशन शक्ति को नहीं मानते। किन्तु, सहज बोधक शक्ति के अभाव में संकेत भी नहीं टिक सकेगा। संकेत के बिना शब्द अर्थ को तो बता सकेगा, किन्तु किस अर्थ को बताये, यह मालूम न हो पायेगा। अमुक शब्द अमुक अर्थ का वाचक है, यह निर्धारण संकेत के द्वारा होगा, किन्तु उसमें अर्थावबोधन की शक्ति तो पहले से चाहिए। संकेत एक रूढ़ि-भर है। वह एक प्रणाली है। उसमें व्यापकत्व नहीं है। फिर भी, वाचक और वाच्य का सम्बन्ध बनाने में संकेत एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

शब्द की अर्थावबोधन की व्यापक सामर्थ्य को यदि संकेत-द्वारा नियत न किया गया तो वह वक्ता के अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादक न होकर, श्रोता की इच्छानुसार किसी भी अर्थ का वाचक बन जायेगा। इस प्रकार शब्द प्रयोग का उद्देश्य ही नष्ट

---

१. जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, पृ. 181.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जायेगा। कहा जायेगा गौ लाने को और वह ले आयेगा शकरकन्द, कहा जायेगा सिन्दूर लाने को और वह ले आयेगा जरदा। ऐसी अव्यवस्थित दशा में भाषा उद्देश्यहीन बन कर रह जायेगी।

एक दूसरा प्रश्न है कि शब्द अपने अर्थ से भिन्न है या अभिन्न। यदि सर्वथा भिन्न होता तो शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता था। "वाच्य को अपनी सत्ता के ज्ञापन के लिए वाचक चाहिए और वाचक को अपनी सार्थकता के लिए वाच्य चाहिए। शब्द की वाचक पर्याय वाच्य के निमित्त से बनती है और अर्थ की वाच्य पर्याय शब्द के निमित्त से बनती है, इसलिए दोनों में कथञ्चिद् तादात्म्य है। सर्वथा अभेद इसलिए नहीं कि वाच्य की क्रिया वाचक की क्रिया से भिन्न है।[१]" वाचक बोध कराने की पर्याय में होता है और वाच्य ज्ञेय पर्याय में। वास्तविकता यह है कि शब्द वही है, जो अर्थवान हो। अर्थ के बिना शब्द 'स्थाणुरयं भारहारः'—जैसा है। इसी को भर्तृहरि ने अपनी दार्शनिक भाषा में कहा है कि अर्थब्रह्म के बिना शब्दब्रह्म की कोई सत्ता नहीं है। शब्द और अर्थ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसी को वाक्यपदीयम् (२।३१) में "एकस्यैवात्मनौ भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।" कहा गया है। कालिदास ने कुमारसम्भव में वाक् और अर्थ को संपृक्त मानते हुए हर और पार्वती के समान कहा है। महात्मा तुलसीदास ने वाक् और अर्थ को जल और तरंग के समान कहते हुए लिखा है, "गिरा-अरथ जल-वीचि सम कहिअत भिन्न-न-भिन्न[२]।" जल-वीचि की बात पुष्पदन्त और स्वयम्भू ने पहले ही लिखी थी।

आज, जब तेजी से बदलते इस युग के जीवन मूल्यों में संतुलन रख पाना कठिन हो गया हो, तब मैं अतीत की गहराइयों में डूबा रहूँ, सम्भव न था। सम्भव हुआ एक वीतरागी साधु की निष्काम प्रेरणा और सतत मंगलवर्षा से। कार्य आसान नहीं था। वज्रमणि में छेद करने-जैसा ही था। मुझे तो ऐसा ही लगा। अनवरत श्रम तो आवश्यक था ही, किन्तु सतत निष्ठा और एकाग्रता के बिना तो कुछ हो ही न पाता। मेरी कुटिया में निष्ठा का दीप जलता रहा और जलता रहा। किसी राग-द्वेष अथवा माया-मोह का प्रभञ्जन उसे चुका न सका। तो, मैं उस स्नेह का आभारी हूँ, जिसने इस दीप की बत्ती को, धीमे-धीमे ही सही, मन्द-मन्द ही सही जलने दिया। वह स्नेह था एक श्रमण साधु का, जो मुझे एक आशीर्वाद के रूप में मिला था। स्नेह—दिव्य स्नेह, राग-रहित, मोह-रहित। जैन ग्रन्थों की साधना

---

१. जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, पृष्ठ 607.

२. रामचरित मानस, बालकाण्ड 18.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिना इस स्नेह के सम्भव नहीं है। निष्ठा चाहिए, कोरा श्रम व्यर्थ है। मुझे जहाँ से निष्ठा मिली, उन्हीं चरणों में यह ग्रन्थ समर्पित है।

मैं उन आचार्यों, सूरियों और ग्रन्थकारों का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनकी बौद्धिक सम्पत्ति मुझे विरासत के रूप में मिली। उनकी जलाई ज्योति न होती तो मैं कुछ देख ही न पाता। वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इंदौर, भाई बाबूलालजी पाटौदी और डा. नेमीचन्द जैन के लिए क्या लिखूं, वे अपने ही हैं। उनके पत्रों से मुझे उत्साह मिला है और मैं उमंगित मन से इस ग्रन्थ को पूरा कर सका हूँ। उनके प्रति आभारी हूँ। श्री माणिकचन्द जी पाण्या के स्नेह से ही मैं ग्रन्थ-प्रकाशन के अन्तिम क्षणों में इन्दौर पहुँच सका, सुविधा-पूर्वक ग्रन्थ देख सका, उनका कृतज्ञ हूँ—अतीव कृतज्ञ।

मैंने जो कुछ लिखा है, बम्भी देवी के चरणों में लघु विनत श्रद्धाञ्जलि है। यदि विद्वानों को रुचिकर हुई, तो मैं अपने को कृतार्थ समझूंगा।

—डॉ. प्रेमसागर जैन
अध्यक्ष एवं रीडर
हिन्दी विभाग

श्रुत पञ्चमी
वी. नि. सं. २५०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विश्व की मूल लिपि ब्राह्मी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिपि : व्युत्पत्ति और विश्लेषण

लिपि और लिपिकार

लिपि शब्द 'लिप् उपदेहे' से लिप् धातु में, 'इक् कृष्यादिभ्यः' इति इक् प्रत्यय के लगाने से बनता है।[1] लिप् धातु लेपने, लीपने या पोतने के अर्थ में आती है। जैसे काष्ठादिफलक पर चिकनी मुलतानी मिट्टी का लेपन करना। ओठों पर मांजिष्ठ (मजीठ) का लेपन भी लिपि कहलाता है—"लिपि लेपन द्रव्यम्, ओष्ठ रञ्जिका मांजिष्ठी लिपिरोष्ठयोः।" इसी कारण 'लिप्यते इति लिपिः' कहा जाता है। जैन ग्रन्थों में काष्ठफलकादि को सुधा प्रभृति द्रव्यों से लीपने की बात कही गई है।[2]

लिपि शब्द केवल लीपने या पोतने के अर्थ में ही नहीं, अपितु लिखने के अर्थ में भी आता है। मेदिनीकोश के रचयिता ने 'लेखा लिपिः' लिख कर लेखन कर्म को लिपि माना है।[3] लेखा शब्द 'लिख्' धातु से बना है और लिख् धातु 'लिख विलखने' से विलखन् अर्थ में आती है। विलखन का अर्थ है एन्ग्रेवेशन अर्थात् खोदना या छेदना। वह धातुपत्र पर हो, काष्ठ फलक पर हो, पत्थर पर हो, सूती कपड़े पर हो या किसी और पर, खोदना या छेदना ही कहलायेगा। ईसा से छठी शताब्दी पूर्व के सिंहली आगमों में लेखन को 'छिन्दति लिखति' कहा गया है।[4] विनयपिटक में एक स्थान पर बौद्ध-भिक्षुओं के लिए नियम खोदने की बात लिखी है।[5] जैनों में मूर्ति लेख अत्यधिक प्राचीन हैं। मोहन-जो-दरो में ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति पर 'जिनाय नमः' खुदा हुआ है। इस छेदने या खोदने के काम में छैनी, हथौड़ा और कील का प्रयोग होता था। प्राचीन ग्रन्थों में इन साधनों का भी उल्लेख हुआ है। कालान्तर में हल से भूमि-विदारण को भी विलखन कहने लगे, जैसा कि 'लेखनं भूमिदारणं' से सिद्ध है।

---

१. 'लिप्यत इति लिपिः'—अमरकोष २/८/१६ 'लिप् उपदेहे'—जु. उ. अ., इति धातोः, 'इक् कृष्यादिभ्यः'—वार्तिक ३/३/१०८ इति इक् प्रत्ययः।

२. "पूर्वस्मिन् युगे काष्ठफलकादिकं सुधाप्रभृतिद्रव्यैरुपलिप्य अंगुलिभिर्नडैर्वा अक्षराणामाकृतिर्विधीयते स्मेति प्रतीयते।" देखिए भगवतीसूत्र, संस्कृत व्याख्या.

३. मेदिनीकोश, 'ख' ४.

४. विनयपिटक, ओल्डेनबर्ग सम्पादित, १/२४ और 'सेक्रेड बुक्स ऑव ईस्ट', १०/२८

५. देखिए वही.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवताओं को भी लेख कहते हैं, शायद इस कारण कि घर-द्वारों पर रेखाकृतियों से देवताओं के चित्र बनाने की प्राचीन प्रथा है। इसी कारण उन्हें रेख अथवा लेख संज्ञा से अभिहित किया गया है। यहाँ पर भी देवताओं के चित्र उत्कीर्ण करने की बात है। अर्थात् चित्र खोदने के अर्थ में भी लिख् धातु आती थी।[१]

अमर कोषकार ने 'लिखिताक्षर विन्यास' को लिपि कहा है। उसका कथन है —"लिखिताक्षर विन्यासे लिपिर्लिविरुभे स्त्रियौ"। इसका समास विग्रह है–'लिखितं चाक्षरविन्यासश्च, अनयोः समाहारः, तस्मिन्।'[२] इसका अर्थ है–लिखित हो और अक्षर विन्यास हो, उसमें स्त्रीलिंगवाची लिपि अथवा लिवि होती है। उच्चारण भेद से लिपि को लिवि कहते हैं। लिखितं–अर्थात् लिखित हो–अर्थात् खुदा हुआ या छिन्दित हो। क्या हो? अक्षर विन्यास–अक्षरों की आकृति। इसका अर्थ हुआ कि खुदी हुई अक्षरों की आकृति। खुदा हुआ अर्थ लिख् धातु से निकला है, अतः यदि यह कहा जाये कि लिखे हुए अक्षरों की आकृति को लिपि कहते हैं, तो अन्यथा न होगा। किन्तु प्रश्न तो यह है कि खुदे हुए अथवा लिखे हुए अक्षर विन्यास में 'लिपि लिप्यते' वाली बात कैसे घटित हुई। यदि घटित नहीं होती तो उसका लीपना-पोतना अर्थ व्यर्थ हो जाता है। किन्तु, प्राचीन ग्रन्थों से विदित है कि जिस वस्तु पर भी अक्षर विन्यास होता था, उसे पहले लीपा-पोता अथवा पालिश की जाती थी। एलबरूनी का कथन है कि भोज पत्र पर पहले पालिश की जाती थी फिर उस पर लिखा जाता था।[३] ताड़पत्र को भी मुलायम पत्थर अथवा शंख से रगड़ कर लिखने के पूर्व चिकना कर लिया जाता था।[४] इसी भाँति सूती कपड़े पर पालिश करने का रिवाज था।[५] पत्थर को भी पहले मुलायम किया जाता था, फिर उस पर पालिश होती थी, तदुपरि अक्षर-विन्यास छैना-हथौड़े, कील या अन्य किसी वस्तु से किया जाता था।[६] जैन-ग्रन्थों में लिखा है–"पूर्वस्मिन युगे काष्ठफलकादिकं सुधाप्रभृतिद्रव्यैरुपलिप्य अंगुलिभिर्नडैर्वा अक्षराणामाकृतिर्वाविधीयते स्म।"[७] इसका अर्थ है–पहले समय में काष्ठफलक आदि पर, सुधा प्रभृति द्रव्यों से लेपन कर, अंगुली अथवा नाखूनों से अक्षर विधान किया जाता था।

---

१. "लेखः देवः। लेखः कस्मात्? पुरा हि अनुमतां दिव्यानां देवानां विग्रहात्मिका रूपवर्णरचना भित्तिषु लिखित्वैव क्रियते स्मेति लेखः। अद्यापि विवाहादिकौतुकावसरे द्वारभित्तिषु परम्परात्वेन गणेशगौरीविष्णुगजहयस्वस्तिकादीनां पाण्डुकगैरिकादिभिर्लेखनं विधीयते।"
'लेखर्षभोऽनिलः' जिनसहस्रनाम १०८, श्रुतसागरी व्याख्या और
'लेखो लेख्ये सुरे', मेदिनीकोश, 'ख'–४.

२. अमरकोष २/८/१६.

३. इण्डिया, १.१७१, (सचाऊ)

४. राजेन्द्रलाल मित्र, गाफ पेपर्स, पृष्ठ १४.

५. देखिए मैसूर और कुर्ग गजेटियर—१८७७, १–४०८.

६. इण्डियन पेलियोग्राफी, डॉ. राजबली पाण्डेय, भाग १, पृष्ठ ७७

७. देखिए भगवती सूत्र—संस्कृत व्याख्या.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार लिपि और लेख पर्यायवाची थे । पाणिनीय अष्टाध्यायी में लिपि शब्द का प्रयोग हुआ है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है, "पाणिनि ने ग्रन्थ, लिपिकर, यवनानी लिपि और गौओं के कानों पर संख्यावाची चिन्ह अंकित करने की प्रथा का उल्लेख किया हैं। ये सब लिपि-ज्ञान के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण हैं।"[1] पाणिनि ने अपने सूत्र ३/२/२१ में लिपि का दूसरा उच्चारण लिबि भी स्वीकार किया है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र (१/५) में लिपि शब्द आया है। वहाँ सांकेतिक लिपि को संज्ञालिपि कहा गया है।[2]

ईरानी सम्राट दारा प्रथम के वहिस्तून अभिलेख में उत्कीर्ण लेख को दिवि कहा गया है। लिपि और दिवि में लिपि और लिबि की भाँति उच्चारण भेद हो सकता है, किन्तु इस आधार पर यह अनुमान कर लेना कि—"लिपि और दिपि का मूल सम्भवतः प्राचीन ईरानी दिपि से है और ये शब्द ईसा-पूर्व ५०० में पंजाब पर दारा के आक्रमण से पूर्व भारत में न पहुँचे होंगे। दिपि ही बाद में लिपि हो गई।"[3] ठीक नहीं है। वेद और अवेस्ता में शब्द साम्य है। उच्चारण भेद से शब्दों में अन्तर आया है। इसका अर्थ यह तो नहीं है कि अवेस्ता से वेद अथवा वेद से अवेस्ता में शब्द-ग्रहण हुआ है। संस्कृत और फारसी भी 'Allied Languages' थीं। अतः लिपि और दिपि का मूल एक हो सकता है, किन्तु लिप से दिपि अथवा दिपि से लिपि शब्द बना या हो गया, कहना उपयुक्त नहीं है।[4] व्हूलर का यह कथन भी सारगर्भित प्रतीत नहीं होता कि भारतीय महाकाव्यों और बौद्ध आगमों में लिख, लेख, लेखक और लेखन का प्रयोग अधिक है, लिपि का कम, क्योंकि वह विदेशी शब्द है।[5] एक शब्द के अनेक पर्यायवाचियों में कोई अधिक चल पड़ता है और कोई कम, किन्तु इस आधार पर कम चलने वाले का मूल विदेशी मान लेना युक्तिसंगत नहीं है। जैसे चन्द्रमा के अनेक पर्यायवाची हैं, किन्तु चन्द्र या चन्द्रमा जितना प्रचलित

---

१. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत, प्र.सं०, वि. सं.. २०१२, वाराणसी ५/२/३०६.

२. कौटिल्य, अर्थशास्त्र १/७.

३. व्हूलर, भारतीय पुरालिपिशास्त्र, मंगलनाथसिंह—अनुवादित, वाराणसी, पृष्ठ १२.

4. "The origin of the term 'divira' seems to be in the word 'diPikara' (a writer or Engraver) used in the Asokan Edicts. 'Dipikara' could Easily be Prakritised into 'divikara—divira, It is likely that 'dipikara' and 'divir' were derived from the same common source, as sanskrit and ancient Persian were allied languages."

डॉ. राजवली पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृष्ठ ६१.

५. व्हूलर, भारतीयपुरालिपि शास्त्र, पृष्ठ १०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुआ, अन्य नहीं। तो, उन पर अन्यथा कल्पना नहीं की जा सकती। यह तो प्रचलित हो जाने की बात है। उसमें जन प्रवृत्ति ही अधिक सहायक है, जो सुगमता और सुकरता अधिक चाहती है। लिपिकर से लेखक सुगम है और सुकर। उसके अधिक प्रचलन में यह भाषा वैज्ञानिक कारण बहुत कुछ सम्भाव्य है।

लिपि और लेख के समान ही लिपिकर और लेखक भी पर्यायवाची हैं। लिपि को उच्चारण भेद से लिवि कहते हैं,[1] उसी प्रकार लिपिकर को लिविकर। दोनों ही शब्द पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रयुक्त हुए हैं। एक शब्द और है–दिपिकर, यह दिपि से बना है। दिपि और लिपि एक ही अर्थ में आते हैं। दिपि विदेशी शब्द है। इस पर अभी विचार हो चुका है। सम्राट अशोक के शिलालेखों में लिपि और दिपि दोनों का प्रयोग हुआ है। जहाँ उनके ब्रह्मगिरि और गिरनार के अभिलेखों में लिपिकर शब्द मिलता है, वहाँ शाहवाज़गढ़ी के १४वें लेख में दिपिकर शब्द प्रयुक्त हुआ है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, "मौर्य युग में लिपि शब्द लेखन के लिए प्रयुक्त होता था। अशोक ने अपने स्तम्भ लेख और शिलालेखों को धम्मलिपि या ध्रम्मदिपि कहा है। लघु शिलालेख सं० २ में लेख खोदने वाले को लिपिकर कहा गया है।"[2] आगे चल कर सातवीं आठवीं शताब्दी के वल्लभी के शिलालेखों में दिविर या दिवीर शब्द का प्रयोग हुआ है। डॉ० व्हूलर के अनुसार यह शब्द फारसी के देवीर से बना है, जिसका अर्थ होता है–लेखक। ये सासानी शासनकाल में पश्चिमी भारत में बस गये थे।[3] शायद ऐसा ईरान और भारत के बीच व्यापारिक सम्बन्धों के बढ़ने के कारण हुआ हो। राजतरंगिणी में दिविर शब्द का प्रयोग हुआ है। क्षेमेन्द्र के लोक प्रकाश में गजदिविर (बाज़ार लेखक), ग्राम दिविर, नगर दिविर आदि अनेक भेद मिलते हैं। मध्यकाल में दिविरपति शब्द का उल्लेख मिलता है। दिविरपति संधिविग्रह कृत–संधि और युद्ध के मंत्री को कहते थे। डॉ० राजवली पाण्डेय ने लिखा है, ""In a large number of vallabhi inscriptions of the Seventh and eightth Centuries A. D., the minister of Alliance and war (Sandhi-Vigrahadhikrta), who was responsible for the preparation of the draft of documnts, is Called 'divirpati'

---

१. 'कि लिपिलिवि' (३/२/२१) इति लिङ्गात् पस्य वो वा। 'लिविः' सौत्रो धातुः–इति मुकुटः। अमरकोष २/८/१६.

२. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, ५/२/३०६

३. भारतीयप्राचीनलिपिशास्त्र, व्हूलर, पृ. २०७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

which means the lord of diviras."[१] इसका स्पष्ट अर्थ है कि बहुत से लेखक इस दिविरपति–विग्रह और संधि मंत्री के नीचे ड्राफ्ट्स और डोक्यूमेन्ट्स तैयार करते थे। ऐसे लेखकों को राज लिपिकर भी कहते थे। सांची के शिलालेख में 'सुविहित गोतीपुत्त'–को राजलिपिकर कहा गया है।[२]

अशोक के शिलालेखों से ऐसा लगता है कि लेखक शब्द, उस समय तक लिखने और उत्कीर्ण करने दोनों अर्थों में आता था, किन्तु आगे चल कर ये दो पृथक्-पृथक् काम हो गये। लेखक केवल लिखने का काम करता था और शिल्पी उन्हें पत्थरों अथवा ताम्र पत्रों आदि पर खोदने का काम करते थे। इस सन्दर्भ में ब्हूलर का कथन दृष्टव्य है, "जैसा कि अभिलेखों के अन्तिम अंशों से विदित होता है कि परम्परा यह थी कि पत्थर पर खोदे जाने के लिए प्रशस्तियाँ अथवा काव्य पेशेवर लेखकों को दिये जाते थे। ये उसकी स्वच्छ प्रति तैयार करते थे। इस प्रति के आधार पर ही कारीगर (सूत्रधार, शिलाकट, रूपकार या शिल्पिन्) पत्थरों पर प्रलेख खोद देते थे।"[३] इण्डिया एपिग्राफिका XVI २०८ में शिल्पिन् के लिए वीनाणि शब्द के प्रयोग की बात कही गई है। वीनाणि का अर्थ है वैज्ञानिक। अर्थात् शिल्पी वैज्ञानिक कहा जाता था। कलिंग में इसे ही अक्षशालिन् अथवा अश्मशालिन् कहते थे।[४] कारीगरों के रूप में अयस्कर, कण्सर (कसेरा), संगतराश और हेमकार का भी उल्लेख मिलता है।[५]

पेशेवर लेखकों में कायस्थ प्रमुख थे। पहले इनकी कोई जाति नहीं थी। भिन्न-भिन्न वर्णों के लोग राज्य के आफिसों में लेखक (क्लर्क) का काम करने के लिए आते थे। आगे चल कर इनकी एक जाति बन गई। वह एक सम्मिश्रित जाति थी।[६] ब्राह्मण ग्रन्थों का कथन है कि उनमें शूद्र रक्त अधिक है, किन्तु राजाओं और मंत्रियों के सम्पर्क में रहने के कारण उनका स्थान ऊँचा था।[७] शायद इसी कारण उनके द्वारा पीड़ित प्रजा की रक्षा की बात याज्ञवल्क्य स्मृति में आई है, "कायस्था लेखका गणकाश्च तै पीडयमाना विशेषतो रक्षेत्।

---

१. डॉ. राजबली पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ ६१
२. एपिग्राफिया इण्डिका, II, १०२
३. ब्हूलर, भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ. २०८.
४. इण्डियन एण्टीक्वेरी, १३ वाँ भाग, पृ. १२३.
५. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ २०६, पादटिप्पड़.
६. डॉ. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, वाराणसी, १९६१, पृ. २५६.
७. कोलब्रुक, एसेज, II, १६१, १६२ (कावेल) और बम्बई गजेटियर, XIII, I, ८८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेषां राजवल्लभतयातिमायवित्त्वाच्च दुर्निवारत्त्वात् ।"[१] इससे स्पष्ट है कि वे राज-प्रिय तो थे ही, अतिमायावित् भी थे, अर्थात् माया रचने में निपुण थे । उनके समूचे आदर्श और सिद्धान्त अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए थे । वे अपने अतिरिक्त और किसी का भला नहीं देख पाते थे । वे अत्यधिक स्वार्थी थे । कायस्थ शब्द की व्युत्पत्ति—काये स्थितः से भी यही स्पष्ट होता है कि वे अपनी काया में ही स्थिर रहते थे, अर्थात् अपने स्वार्थों में निमग्न रहते थे ।

कायस्थ का सबसे पहला उल्लेख 'विष्णुधर्म सूत्र' में मिलता है—"राजाधिकरणे तन्नियुक्तकायस्थकृतं तदध्यक्षकरचिह्नितं राजसाक्षिकम् ।"[२] दूसरा उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति में आया है, जिसमें कायस्थों से प्रजा को विशेषरूप से रक्षित करने की बात है—"चाट तस्कर दुर्वृत्त महासाहसकादिभि; पीडयमानाः प्रजाः रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषतः ।[३]" बुद्ध गुप्त के समय (ई० सं० ४७६-४९५) के एक ताम्रपात्र के लेख में उल्लेख है कि—"कायस्थों का प्रमुख जिला परिषद् का सदस्य था ।"[४] अभिलेखों में राजस्थान का 'काणस्व अभिलेख' (ई० स० ७३८-३९) पहला है, जिसमें कायस्थ शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है ।[५] गुजरात[६] और कलिंग[७] के अभिलेखों में इनका प्रायः नाम मिलता है । कल्हण की राजतंरगिणी और क्षेमेन्द्र के लोकप्रकाश में भी इनका एकाधिक बार नामोल्लेख हुआ है ।

लेखक के अन्य नाम भी थे, जैसे-करण, करणिक, करणिन्, शासनिक और धर्मलेखिन् । करण कायस्थ का पर्यायवाची था । यह भी एक वर्णसंकर जाति थी ।[८] याज्ञवल्क्य स्मृति में इसे वैश्य पिता और शूद्रा मां की सन्तान माना है, "वैश्यात्तु करणः शूद्रायां विन्नास्वेष विधिः स्मृतः ।"[९] इन सबका काम वही था जो कायस्थ किया करते थे । प्रायः इन्हें राजाज्ञापत्रों और कानूनी दस्तावेजों को तैयार करना होता था । इनका उल्लेख मध्ययुग के चेदि और चंदेलों के

---

१. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति, I, ३६६.
२. विष्णुधर्मसूत्र, ७वाँ अध्याय, ३ रा श्लोक-
३. याज्ञवल्क्यस्मृति, १/३६६.
४. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १५, पृ. १३८.
५. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग १९, पृ. ५५.
६. वही, भाग ६, पृ १९२.
७. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३, पृ. २२४.
८. डॉ. राजबली पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ. ९३.
९. याज्ञवल्क्यस्मृति, १/९२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेखों में मिलता है। वहाँ यह भी लिखा है कि वे सुन्दर अक्षर लिखते थे। अपने सुन्दर अक्षरों के कारण उन्हें गौड़ देश से मध्यदेश अथवा राजपूताना में निमंत्रित किया जाता था। उन्हें संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान होता था, अतः शुद्ध भी लिखते थे।[1] एक जगह लिखा है—

> "संस्कृत भाषा त्रिपुषा जयगुण पुत्रेण
> कौतुका लिखिता रुचिराक्षरा
> प्रशस्तिः कारणिक जद्धेन गौडेन ॥"[2]

सुन्दर अक्षर लिखने के सन्दर्भ में कायस्थों का भी उल्लेख आता है। बंगाल के गौड़ कायस्थ इस कार्य में निपुण थे। उन्हें भारत के विभिन्न भागों में निमन्त्रित किया जाता था। खुजराहों के लेख (१० वीं सदी), मध्य प्रदेश की कलचुरि प्रशस्ति तथा मारवाड़ से प्राप्त चाहमान लेखों में कायस्थ की प्रशंसा की गई है, क्योंकि वह राजकीय पत्रों को सुन्दर व ललित अक्षरों में लिखता था। अमरकोषकार ने 'लिपिंकरोऽक्षरचणोऽक्षरचुञ्चुश्च लेखके'[3] सूत्र में अक्षरचण और अक्षरचुञ्चु को लेखक और लिपिकर के पर्यायवाचियों में देकर कहना चाहा है कि लेखक को सुन्दर अक्षरों का धनी होना ही चाहिये। कायस्थ सुलेखक थे। इण्डिया एपिग्राफिका में कायस्थ के लेख को कहीं पर 'अखिल दखिल वर्ण व्यक्त पंक्ति प्रशंस्यं'[4] और कहीं 'स्फुट ललित निवेशैरक्षरैस्ताम्र-पट्टम्' कहा गया है।[5]

जैन मन्दिरों और भण्डारों में भी ऐसे लेखकों को नियुक्त किया जाता था। वहाँ वे धर्मग्रन्थों की प्रतिलिपि किया करते थे। किन्तु सत्य यह है कि जैन ग्रन्थों की अधिकांश प्रतिलिपियाँ जैन साधु, साध्वियाँ, श्रावक और श्राविकाओं के द्वारा तैयार की गईं। उन्होंने ब्राह्मण पण्डितों से भी यह कार्य सम्पन्न करवाया। कायस्थ और करणिकों के प्रति उनके हृदय में कहीं-न-कहीं शूद्र वाला भाव अवश्य ही सन्निहित था। व्हूलर के इस कथन में—'कभी-कभी जैन साध्वियाँ भी प्रतिलिपि का काम करती थीं'—कभी-कभी ठीक नहीं है।[6] उन्होंने यह कार्य बहुत किया, ऐसा हस्तलिखित ग्रंथों की प्रशस्तियों से विदित

---

१. डॉ. वासुदेवसिंह, 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन', पृ. २५७.
२. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १, पृ. १२६.
३. अमरकोष, २/८/१५.
४. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १४, पृ १६५
५. वही, पृ. १४.
६. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ. २०६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। डॉ० राजबली पाण्डेय का यह कथन Jain Mss were copied by monks and nuns who spent their time in preparing the Mss of sacred texts."[1] नितान्त सत्य है और तथ्यों पर आधृत है। जो प्रतिलिपियाँ कायस्थ लेखकों के द्वारा की गई हैं, उनमें भद्दी भूलें हैं। कहीं-कहीं ऐसा गजब हुआ है कि आज विद्वानों के लिए उनका परिहार दुरूह प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि में कायस्थ लेखकों को संस्कृत-प्राकृत का सुष्ठु ज्ञान नहीं था। ब्राह्मण पण्डितों की प्रतिलिपियों में ऐसी आशुद्धियाँ नहीं हैं।

अक्षर–

'अक्षर विन्यास' का अर्थ है–अक्षरों की बनावट या लिखावट। इसके पर्यायवाची हैं–अक्षर लिपि, वर्ण विन्यास, अक्षर संस्थान, अक्षरौटी और अक्षर लेख आदि। इनमें अक्षर मुख्य हैं। 'अथ किमिदमक्षरमिति', अर्थात् यह अक्षर क्या हैं? इस प्रकार का प्रश्न भाष्यकार ने उठाया था। श्लोक वार्त्तिक नाम के जैन ग्रंथ में एक सूत्र है–अक्षरं न क्षरं विद्यात्। इसका अर्थ है, जिसका नाश न हो, वह अक्षर है। अक्षर शब्द क्षर धातु से बना है और 'क्षर संचलने' (स्वा० प० से०)। पचाद्यच (३।१।१३४)। यद्वा-अश्नुते। 'अशू व्याप्तौ' (स्वा० आ० सं०)। 'अशेः सरः' (उ० ३/७०)। इस दृष्टि से अक्षर की व्युत्पत्ति हुई–'न क्षरतीति अक्षरम्'। अर्थात् जिसका क्षरण न हो–संचलन न हो–चलायमानता न हो, वह अक्षर है। ऐसी बात या तो लब्ध्यक्षर में होती है अथवा फिर केवलज्ञान में ही। दोनों ही हानि-वृद्धि रहित हैं, अर्थात् दोनों ही नाश हुए विना एक रूप से रहते हैं। दोनों ही निरावरण हैं। लब्ध्यक्षर-सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जघन्य ज्ञान को कहते हैं। और केवलज्ञान तीर्थंकर अथवा किसी भी साधक के सर्वोत्तम ज्ञान को कहते हैं। यह मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से उत्पन्न होता है। इसे पाकर जीव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा हो जाता है। लब्ध्यक्षर ज्ञान केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग है, किन्तु है वही, अतः दोनों को ही अक्षर संज्ञा प्राप्त है। केवलज्ञान का अर्थ है मोक्ष, परमात्मपद, परब्रह्म आदि। अनेकार्थ कोष में–"मोक्षेऽपवर्गे ओं ब्रह्मण्यच्युतेऽक्षरम्।" कहा गया है। नानार्थ रत्नमाला में –"अक्षरं प्रणवे धर्मे प्रकृतौ तपसि कृतौ। वर्णे मोक्षे च, ना त्वेष शिवविष्णुविरञ्चिषु। मृगादान बौद्धेषु।"[2] लिखा है।

---

१. डॉ. पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ ९०.

२. अमरकोष—'अक्षरं तु मोक्षेऽपि' की संस्कृत व्याख्या, ३/३/१९२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस अक्षर रूप परमात्मा को अभिव्यक्त करने वाले स्वर, व्यञ्जन, ध्वनि और ध्वनि संकेत निमित्त रूप होते हैं, अतः उन्हें भी अक्षर कहते हैं, नन्दि-केश्वर काशिका में लिखा है—

"अकारः सर्व वर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते ॥"[१]

इसका अर्थ है कि अकार अर्थात् 'अ' यह अक्षर समस्त वर्णों में प्रथम है। यह शास्त्रादि की रूपात्मकता का जनक होने से प्रकाश रूप है, परम है, शिव है। इस प्रथमाक्षर अ तथा अंतिम अक्षर ह के संयोग से 'अहं' सिद्ध होता है और अहं का अर्थ है—आत्मब्रह्म। अतः यह 'अक्षरसमाम्नाय' साभिप्राय है—परमात्म बोधक है। इसी अर्थ का द्योतक एक श्लोक आचार्य जिनसेन के आदि पुराण में सुनिबद्ध है—

"अकारादिहकारान्तरेफमध्यान्तबिन्दुकम् ।
ध्यायन् परमिदं बीजं मुक्त्यर्थी नावसीदति ॥"[२]

अर्थ—आद्य अ और अन्त्य ह के संयोग से अहं सिद्ध होता है। इसके मध्य में रेफ तथा मस्तक पर बिन्दु लगाने से अर्हं पद बनता है। यह अर्हं परमबीज मंत्र है। इस परम बीज मंत्र का ध्याता योगी मुक्त्यभिलाषी होता है और कभी अवसाद को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् मुक्ति पा ही लेता है।

ऐसा ही एक श्लोक श्लोकवार्तिक में भी आया है—

"वर्णज्ञाने वाग् विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते ॥"[3]

अर्थात् यह वर्णज्ञान वाक् का विषय है, जिसमें ब्रह्म का निवास है। अकार से हकार-पर्यन्त अक्षरवाणी का वर्णात्मक लौकिक संघटन है, सारा संसार इन अ-हात्मक अक्षरों से सम्बोधित किया जाता है। समस्त लोक को इस प्रकार अपने वर्णकुण्डल में परिवेष्टित करने वाली कुण्डलिनी का विषय सहस्रार में स्थित परम शिव ही है, जिसे ब्रह्म कहते हैं— इस प्रकार वाक् में ब्रह्म की स्थिति है। जब कोई जीव परमात्मा को सम्बोधित करता है, तब उसे ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर आदि कहने के लिए वाक् का ही आश्रय लेना होता है। इष्ट का ज्ञान भी वाक् से ही होता है, इस हेतु से वर्णज्ञान (अक्षर विषयक परामर्श) उचित ही है।

---

१. नन्दिकेश्वरकाशिका, ४.

२. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, २१/२३१.

3. देखिए श्लोकवार्त्तिक.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य सिद्धसेन ने "कल्याण मंदिरस्तोत्र' में विरोधाभास के माध्यम से भगवान् की स्तुति करते हुए एक पंक्ति में लिखा है, "किं वाक्षरं प्रकृतिरप्य-लिपिस्त्वमीश।"[1] इसका अर्थ है कि हे ईश! आप अक्षर प्रकृति होकर भी अलिपि-अर्थात् लिपि रहित हैं। जब अक्षररूप हैं तो लिपि रूप हैं, फिर लिपि रहित कैसे हो गये? समाधान है कि आप अक्षर रूप हैं, अर्थात् अविनाशी हैं और लिपि-रहित का अर्थ है–लेपरहित हैं–कर्मलेपरहित हैं। अथवा, अलिपि का अर्थ है कि आप लिपि के घेरे में नहीं समा पाते। लिपि ससीम है और आप असीम हैं। अतःलिपि द्वारा कही गई स्तुति आपके सम्पूर्ण को कहने में असमर्थ है।

जैनधर्म का सविकल्पध्यान वर्णाकृतिमूलक होता है, अर्थात् उसमें वर्णों के आकार को आधार बनाकर ध्यान किया जाता है। धर्म्यध्यान का एक उपभेद है–पदस्थ ध्यान। इसमें एक या अनेक अक्षरों से बने मंत्रों ॐ, ह्रीं, हं, णमो अरिहन्ताणं, अ सि आ उ सा आदि का अथवा इनके वाच्य परमात्म तत्व का एकाग्र चिन्तवन किया जाता है। इसके अनेक भेदों में से एक भेद का नाम है–'अक्षर मातृका ध्यान'। इसमें माना गया है कि नाभिकमल, हृदय कमल और मुख कमल पर चक्राकार घूमते हुए स्वर और व्यञ्जनों पर मन केन्द्रित करने से परमात्म पद प्राप्त होता है।[2] प्रतिष्ठासारोद्धार में 'णमो-अरिहन्ताणं' को ब्रह्मार्हं का प्रतीक माना है, यहाँ तक कि उसे शब्द ब्रह्म की संज्ञा दी है। उसकी इन्द्रादिदेव आराधना करते हैं। वह श्लोक है—

"दृक् शुद्धयादिसमिद्धशक्ति परम ब्रह्म प्रकाशोद्धुरं;
शब्दब्रह्मशरीरमीरित विपद्यन् मूलमन्त्रादिभिः।
इन्द्राद्यैरभिराध्यते तदमितो दीप्ताग्निः सः क्ष्मासने,
न्यस्यार्चामि सुभुक्तिमुक्तिदमहं ब्रह्मार्हमित्यक्षरम्॥"[3]

अर्थ–ब्रह्मार्हं का तात्पर्य है कि अरहन्त परमेष्ठी ब्रह्म हैं और वे अक्षरात्मक हैं, अर्थात् शाश्वतिक हैं–क्षरतीतिक्षरं पुद्गल द्रव्यं तद्भिन्नमक्षरात्मा शाश्वतिक :। शाश्वतिक का अर्थ है–अविनश्वर । वे अर्हं स्वरूप परमात्मा सम्यग्दर्शनादि

---

१. "विश्वेश्वरोऽपि जनपालक दुर्गतस्त्वं,
किं वाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतुः॥"
—कल्याणमन्दिर स्तोत्र, ३० वां श्लोक

२. ज्ञा. प्र. ३८, श्लोक २–६, उ. १, २.

३. प्रतिष्ठासारोद्धार, ३/३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृक् शुद्धि से अतिशय शक्तिमान् हैं, परब्रह्म हैं और अमित प्रकाशमय हैं। मूल मंत्र णमोकार आदि में, अखिल क्लेशों को हरने वाले उसी ब्रह्मार्हं का, शब्द ब्रह्मात्मक शरीर है। चारों ओर से उस प्रदीप्त अग्निमय देव की इन्द्रादि आराधना करते हैं। उन भुक्ति-मुक्ति के दाता सर्वेश्वर की, क्ष्मापीठ पर विराजमान कर मैं अर्चना करता हूँ।

योगवासिष्ठ में योगियों के ध्यान को लिपिकर्मापिताकार कहा है। ऐसा किये बिना वे अन्तस्थ मन से चिंतन नहीं कर सकते थे। उसमें लिखा है—

"लिपिकर्मार्पिताकारा ध्यानासक्तधियश्चते।
अन्तस्थेनैव मनसा चिन्तयामासुरादृता :॥"[१]

इसका अर्थ है—वे 'लिपिकर्म आकार' में अपने को अर्पित किये हुए, ध्यानासक्त बुद्धि होकर, अन्तस्थ मन से, आदर-पूर्वक चिन्तन करने लगे।

जिस प्रकार अक्षर आत्मब्रह्म का प्रतीक है और निमित्त-नैमित्तिक भाव से उसे भी आत्मब्रह्म कहा जाता है, उसी प्रकार अक्षर; ज्ञान का प्रतीक है। जैन ग्रन्थों में अक्षर को श्रुतज्ञान कहा है। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के जो लब्ध्यक्षरात्मक ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान ही है। श्रुतज्ञान मति-ज्ञान पूर्वक होता है। गोम्मटसार जीव काण्ड में एक गाथा है—

"सुहमणिगोद अपजत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धि अक्खरयं॥"[२]

इसका अर्थ है—सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रिय-जन्य मतिज्ञान-पूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुत ज्ञान होता है।

इसकी व्याख्या-स्वरूप कहा जा सकता है कि लब्धि का अर्थ प्राप्ति है। आत्म-स्वरूप की प्राप्ति ही वास्तविक प्राप्ति है। अन्य प्राप्तियाँ परपदार्थात्मक होने से भ्रमोत्पादक हैं। वे स्वप्राप्ति से भिन्न हैं, अत: उनका क्षय करना ही वांछनीय है। लब्धि तो आत्मलब्धि ही है। उस लब्धि का साधन श्रुतज्ञान है। वह श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है। एक ओर तो अक्षर कभी क्षर न होने के कारण परमात्मा का वाचक है, दूसरी ओर श्रुत का साधनभूत अंग है। शास्त्र बिना अक्षर के ज्ञानोपदेश में समर्थ नहीं हो सकते। अत: श्रुत के ज्ञान प्रबन्ध के उपदेष्टा शब्द भी अक्षरात्मक हैं और उनसे ज्ञेय आत्मा भी अक्षर (अविनश्वर) है। उस ज्ञान की परासीमा (सर्वज्ञत्व स्थिति) तीर्थंकरों में होती है तथा ज्ञान के अविभाज्य परमाणु सम्मित अत्यन्त

---

१. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति. ८६।३७.
२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जे. एल. जैनी सम्पादित, ३२२, पृ. १८६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अल्पज्ञान की स्थिति सूक्ष्म निगोदिया जीव में होती है, अर्थात् तीर्थंकर सर्वज्ञ होने से ज्ञान के चरमोत्कर्ष को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार निगोदिया जीव ज्ञान के अत्यारम्भिक उन्मेषमात्र को प्राप्त होते हैं।

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में केवल इतना अंतर है कि केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यों में और द्रव्यों की सब पर्यायों में होती है, जबकि श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यों में तो होती है किन्तु उसकी कुछ ही पर्यायों में होती है। केवलज्ञान प्रत्यक्ष और पूर्ण विशदज्ञान है, जबकि श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है। परोक्ष इसलिए कि अपने मानस पर प्रत्यक्ष करने के लिए उसे चिन्तन का सहारा लेना होता है। इसके अतिरिक्त केवलज्ञान ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म प्रकृतियों के क्षय से होता है और श्रुतज्ञान क्षयोपशम से, अर्थात् एक क्षायिक है और दूसरा क्षायोपशमिक, किन्तु दोनों ज्ञान हैं और दोनों का सम्बन्ध आत्मोपलब्धि से है।

षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणासूत्र में एक शंका उपस्थित की गई है कि जब अक्षर श्रुतज्ञान का साधनभूत है, तब उसे श्रुत संज्ञा से अभिहित क्यों किया गया? समाधान है कि कारण में कार्य के उपचार से ऐसा हुआ है।[1] इस प्रकार अक्षर को उपचार से श्रुतज्ञान की संज्ञा दी गई है। प्रवचनसार की एक गाथा में भी यह ही भाव अभिव्यक्त किया गया है। वह गाथा है—

"सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया।।"[2]

भगवान जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित श्रुत पुद्गल द्रव्यात्मक हैं। एतावता पौद्गलिक वचन भी भागवत ज्ञान के प्रति—ज्ञप्ति के प्रति साधनभूत हैं। उन शब्दों से ज्ञप्ति हो शेष रहती है। यह शब्दात्मक शास्त्र ज्ञेय ज्ञान के फलितार्थ का साधक होने से उपचार से ज्ञान कहा जाता है, जैसे-अन्नंप्राणाः—अन्न प्राण है, ऐसा व्यवहार में कहा जाता है, क्योंकि अन्न प्राण-धारण में सहकारी है, परन्तु तत्त्वतः ऐसा नहीं है। यदि अन्न सर्वथा प्राणात्मक होता तो अन्नोपलब्धि-पर्यन्त प्राणों का नाश नहीं होना चाहिए।

श्रुतज्ञान का श्रुत शब्द पुराना है। वेदों की ऋचाओं को श्रुति कहते हैं। वेदों के बाद, वैदिक परम्परा में श्रुति शब्द का व्यवहार नहीं हुआ। जैन आचार्यों ने समस्त प्राचीन शास्त्रों को श्रुत कहा और यह शब्द आज भी प्रचलित है। कहीं किसी सीमा पर रुका नहीं। श्रुत का अर्थ है—सुना हुआ। यह एक यौगिक शब्द है। तदनुरूप ही सुन-सुन कर जिस ज्ञान को सुरक्षित रक्खा गया, उसे शास्त्र की संज्ञा

---

१. सत्प्ररूपणासूत्र, पं. कैलाशचन्द्र सम्पादित, वाराणसी—५, पृ० १२०.
२. प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, मारोठ (राज०), श्लोक ३४ वाँ, पृ० ३९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त हुई। आचारांग आदि सूत्र 'सुयं मे'—जैसे वाक्यों से प्रारम्भ होते हैं : यह मौखिक परम्परा—सुन-सुन कर याद रखना—शताब्दियों तक चलती रही। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राचीन आचार्यों को लिखना नहीं आता था। इसके विपरीत, वे प्रत्येक अक्षर और शब्द के उच्चारण—ह्रस्व, दीर्घ, लुप्त और काना-मात्रा आदि के प्रति इतने सतर्क थे कि उनमें यत्किञ्चित् परिवर्त्तन भी उन्हें सह्य नहीं था। शास्त्र-लेखन के प्रति उदासीनता का कारण था—जैन श्रमणों की चर्या, साधना और परिस्थिति। उसमें अहिंसा एवं अपरिग्रह मुख्य थे, और शास्त्र लेखन में हिंसा तथा परिग्रह की संभावना थी। शायद इसी कारण बृहत्कल्प नामक छेद सूत्र में स्पष्ट विधान है कि पुस्तक पास में रखने वाला श्रमण प्रायश्चित् का भागी होता है।[1]

श्रुतज्ञान के दो मुख्य भेद हैं—अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत। अक्षरश्रुत में विविध भाषाएँ, लिपियाँ और संकेत समाविष्ट हैं। 'बृहत् जैन शब्दार्णव' में अक्षर-श्रुत के सम्बन्ध में लिखा है, "वह ज्ञान जो कम-से-कम एक अक्षर-सम्बन्धी हो और अधिक-से-अधिक श्रुत ज्ञान के समस्त अक्षरों से पूर्ण हो।"[2] पूर्ण अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। इसमें अङ्ग-प्रविष्ट के आचारांग आदि बारह भेद हैं और अंगबाह्य के अनेक। सर्वार्थसिद्धि में एक शंका उठाई गई है—आचारांग आदि भाषात्मक शास्त्र हैं, फिर वे श्रुतज्ञान के भेद कैसे हो गये? उत्तर देते हुए आचार्य ने लिखा है कि—मोक्ष के लिए इन शास्त्रों का अभ्यास विशेष उपयोगी है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके भाषात्मक शास्त्रों को ही श्रुतज्ञान में गिना दिया है।[3] इसका तात्पर्य है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का और भाषात्मक शास्त्रों का अन्योन्य सम्बन्ध है। अनक्षरश्रुत में श्रूयमाण अव्यक्त ध्वनियों तथा दृश्यमान शारीरिक चेष्टाओं का समावेश किया जाता है। अव्यक्त ध्वनियाँ तथा चेष्टाएँ भी बोध का निमित्त बनती हैं। इस प्रकार कराह, चीत्कार, निःश्वास, खकार, खाँसी, छींक आदि बोधनिमित्त संकेत अक्षर-श्रुत में समाविष्ट हैं।[4]

ध्वनि व्यक्त हो या अव्यक्त—सुनाई देनी चाहिए। यदि सुनाई नहीं देती तो वह श्रुत में शमिल नहीं की जा सकती। व्यक्त ध्वनि वर्णात्मक होने से अक्षरश्रुत कहलायेगी और भेर्यादि की ध्वनि अव्यक्त होने से अनक्षर श्रुत रूप होगी। न्याय शास्त्र में लिखा है—"श्रोत्रग्राह्योगुणः शब्दः। सः द्विविधः। ध्वन्यात्मको वर्णा-

---

१. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ८.

२. 'बृहत् जैन शब्दार्णव' पृष्ठ ४१, और गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३३३, पृ० १६३.

३. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि—देखिए 'श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्' १/२० की संस्कृत व्याख्या.

४. जैन साहित्य का बृहत इतिहास, भाग १, पृष्ठ १४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्मकश्च । तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ । वर्णात्मक प्राकृत-संस्कृत भाषादिरूप: ।"[१] इसका अर्थ है कि श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला गुण शब्दात्मक है। वह ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दो प्रकार का है। शंख, भेरी आदि का शब्द ध्वन्यात्मक तथा प्राकृत-संस्कृत आदि भाषागत शब्द वर्णात्मक है। ध्वनि अस्फुटाक्षर होती है। वर्ण अक्षरात्मकता ग्रहण कर ध्वनि को स्पष्टता प्रदान करते हैं।

प्रश्न है शारीरिक चेष्टाओं का—वे श्रुत की कोटि में आती हैं या नहीं ? उपर्युक्त परिच्छेद में कहा जा चुका है कि वे चेष्टाएँ जो दृश्यमान हैं, अनक्षर श्रुत में आती हैं। सांकेतिक भाषा के अतिरिक्त सांकेतिक चेष्टाएँ भी श्रुत का विषय हैं। किन्तु, प्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य[२] में शारीरिक चेष्टाओं को श्रुत का विषय नहीं माना है। उनके अनुसार जो सुनने योग्य है, वही श्रुत है, अन्य नहीं। शारीरिक चेष्टाएँ सुनाई नहीं देती, अतः उन्हें श्रुत नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ हुआ कि क्षमाश्रमण श्रुत शब्द को यौगिक मानते हैं, किन्तु भट्टाकलंक के तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक में—"श्रुत शब्दोऽयम् रूढ़िशब्द: इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्त्वसिद्धिर्भवति ।"[३] अर्थात् श्रुत शब्द रूढ शब्द हैं और श्रुत ज्ञान में किसी भी प्रकार का मतिज्ञान कारण हो सकता है। आचार्य उमास्वामी ने 'श्रुतं मतिपूर्वं' दिया है।[४] तो फिर, दृश्यमान शारीरिक चेष्टा भी मतिज्ञानपूर्वक हो सकती है और इस कारण उसे श्रुतज्ञान की कोटि में गिना जाना चाहिए।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में श्रुतज्ञान के तीसरे भेद अक्षर ज्ञान को तीन प्रकार का बतलाया गया है-लब्ध्यक्षर, निर्वृत्ति अक्षर और स्थापना अक्षर। इनमें-से लब्ध्यक्षर के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। मुख से उत्पन्न किसी भी स्वर या व्यञ्जनादि को, जो मूल वर्ण या संयोगी वर्ण हो निर्वृत्ति अक्षर कहते हैं। किसी भी देश या काल की प्रवृत्ति के अनुकूल, किसी भी प्रकार की लिपि में लिखित किसी भी अक्षर को स्थापना अक्षर कहते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में ही, अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान का भली-भाँति विश्लेषण करने के लिए बीस भेद किये गये हैं। जिनमें—से प्रथम दो पर्यायज्ञान और पर्याय समासज्ञान अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद हैं और अवशिष्ट अठारह अक्षरात्मक के।[५] उनमें एक अक्षर ज्ञान है और दूसरा अक्षर समास ज्ञान। अक्षर ज्ञान वह है जो केवल एक मूलाक्षर अथवा संयोगी अक्षर से सम्बन्धित हो, इसी को अर्थाक्षरज्ञान भी कहते हैं। यह पर्याय

१. देखिए जैन न्याय और सिद्धान्त ग्रन्थ.
२. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ५०३, पृष्ठ २७५.
३. भट्टाकलंक, तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/२० सूत्र की अकलंक-कृत वार्त्तिक.
४. उमास्वामि, तत्त्वार्थसूत्र, १/२० और षट्खण्डागम—सत्प्ररूपणासूत्र, वाराणसी-५, पृष्ठ १२०.
५. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जे. एल. जैनी सम्पादित, लखनऊ, गा. ३१७, ३१८, ३४८, ३४९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समास ज्ञान के उत्कृष्ट भेद से अनन्तगुणा है।[१] अक्षर समास ज्ञान वह ज्ञान है जो कम-से-कम दो अक्षरों का और अधिक-से-अधिक एक मध्यम पद से एक अक्षर कम का हो। एक मध्यम पद में १६३४८३०७८८८ अक्षर होते हैं।[२] यहाँ एक शंका है—क्या एक पद में उक्त अक्षरों का पाया जाना संभव है? समाधान है-मध्यम पद के ये अक्षर विभक्ति या अर्थबोध की प्रधानता से नहीं बतलाये गये हैं, किन्तु बारह अंगरूप द्रव्य-श्रुत में-से प्रत्येक के अक्षरों की गणना करने के लिए मध्यम पद का यह प्रमाण मान लिया गया है। अक्षर ज्ञान एक अक्षर का होता है— और अक्षर समास दो अक्षर से प्रारम्भ होता है।[३] संस्कृत काव्यों में एकाक्षर श्लोक रचना प्राप्त होती है, जो भारतीय भाषाओं की समृद्धि की द्योतक है। महाकवि भारवि का एक श्लोक है—

"न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्न नुत् ॥१५।१४॥[४]

अर्थ—हे विविधमुख प्रमथगणो! यह क्षुद्र विचारवान पुरुष नहीं है, अपितु न्यूनता को समूल नष्ट करने वाला कोई देवता है। विदित होता है कि इसका कोई स्वामी भी है। वाणों से आहत होकर भी यह अनाहत प्रतीत होता है। अत्यन्त व्यथित को और व्यथित करना सदोष होता है, इस दोष से भी यह मुक्त है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में एकाक्षरी भाषा का उल्लेख है। वहाँ द द द=दया, दान और दमन के लिए आया है। जैन ग्रंथों में भी हा, मा एकाक्षरों से दण्ड दिया जाता था। संस्कृत भाषा में आज भी अ=ब्रह्मा-प्रजापति, क=जल—सुख, ख=आकाश, च=और, न=नहीं, भ=नक्षत्र, र=अग्नि, ल=स्वर्ग, ह=वाक्य पूरण और वा=विकल्प के लिए प्रयुक्त होता है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'स्तुतिविद्या' में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए एकाक्षरी श्लोक का प्रयोग किया है—

"ततोतिता तु तेतीत स्तोतृ तोती तितोतृतः।
ततोऽतातिततोतोते ततता तेत तोततः ॥"[५]

अर्थ—हे भगवान्! आपने विज्ञान वृद्धि की प्राप्ति को रोकने वाले इन ज्ञानावरणादि कर्मों से अपनी विशेष रक्षा की है, अर्थात् केवलज्ञानादि विशेष

---

१. वही, गा. ३३३, पृ. १६३.
२. 'बृहत् जैन शब्दार्णव', पृ. ४०.
३. 'तत्त्वार्थसूत्र', पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री विवेचित, वाराणसी-५, पृ. ४०.
४. भारवि, किरातार्जुनीयम्, १५/१४.
५. स्तुतिविद्या, १३ वाँ श्लोक, पृ. १९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणों को प्राप्त किया है। तथा आप परिग्रह-रहित स्वतंत्र हैं। इसलिए पूज्य और सुरक्षित हैं। आपने ज्ञानावरणादि कर्मों के विस्तृत-अनादिकालिक सम्बन्ध को नष्ट कर दिया है, अतः आपकी विशालता-प्रभुता स्पष्ट है—आप तीनों लोकों के स्वामी हैं।

भैय्या भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' में एकाक्षरी, द्वयक्षरी, त्रयक्षरी और चतुरक्षरी आदि दोहों का प्रयोग किया है। उनमें-से एकाक्षरी का उद्धरण है—

"नानी नानी नान में, नानी नानी नान।
नन नानी नन नाननै नन नैना नन नान॥"[1]

आचार्य समन्तभद्र ने नमिजिन की स्तुति में द्वयक्षरी, त्रयक्षरी आदि श्लोकों की रचना की है। आचार्य समन्तभद्र दार्शनिक और तार्किक थे, तो उत्तमकोटि के साहित्यकार और भक्त भी। भक्ति साहित्य की तो उन्होंने धारा ही प्रवाहित की है। उनकी 'द्वयक्षरी श्लोक' में की गई स्तुति है—

"नमेमान नमामेन मान मान नमा नमा।
मनामोनु नुमोनामनमनोमम नो मन॥"[2]

अर्थ—हे नेमिनाथ! आप अपरिमेय हैं—हमारे जैसे अल्पज्ञानियों के द्वारा आपका वास्तविक रूप नहीं समझा जाता। आप सब के स्वामी हैं। आपका ज्ञान सब जीवों को प्रबोध करने वाला है। आप किसी से उसकी इच्छा के विरुद्ध नमस्कार नहीं कराते। आप वीतराग हैं और मोह-रहित हैं; अतः आपको सदाकाल नमस्कार करता हूँ—हमेशा आपका ध्यान करता हुआ आपकी स्तुति करता हूँ। प्रभो! मेरा—मुझ शरणागत का—भी ध्यान रखिए—मैं आपके समान पूर्णज्ञानी तथा मोह-रहित होना चाहता हूँ।

भैय्या भगवतीदास ने एक द्वयक्षरी दोहे में कहा है कि जैनों को जैन नय अवश्य जानने चाहिये। वह दोहा इस प्रकार है—

"जैनी जाने जैन नै, जिन जिन जानी जैन।
जे जे जैनी जैन जन, जानै निज निज नैन॥"[3]

अर्थ—जैन वह है जो जैन शास्त्रोक्त नयों को जानता है और जिन्होंने उन नयों को नहीं जाना, उनकी जय नहीं होती, अतः जो जो जैन धर्म के दास हैं उन्हें अपने-अपने नयों को जानना ही चाहिए।

---

१. भैय्या भगवतीदास, ब्रह्मविलास, पृ. २७६.

२. 'स्तुतिविद्या', मुख्त्यार-सम्पादित, सरसावा, ६४ वाँ श्लोक, प. ११५

३. 'ब्रह्मविलास', १५ वाँ दोहा, प. २८१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्ण–

'वर्ण्यते यः स वर्णः ।' 'वर्ण प्रेरणे' (चु. प. से.) घञ् (३/३/१९ भावे) पाणिनिः । वर्ण प्रेरणा अर्थ में आता है । उसके आगे घञ् प्रत्यय लगाने से 'वर्णः' निष्पन्न होता है । वर्ण भावों और विचारों को प्रेरणा देते हैं, अतः उसका प्रेरणा अर्थ सार्थक ही है । यदि वर्ण को अच् प्रत्यय से सम्पन्न माना जाये (३/१/१३४) तो व्युत्पत्ति होगी– वर्णयतीति वर्णः ।

वर्ण के अनेक अर्थ होते हैं । अमरकोष में लिखा है, "वर्णाः स्युः ब्राह्मणादयः ।"[१] यहाँ ब्राह्मणादि का अर्थ है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । मेदनी कोश में वर्ण शब्द–"वर्णो द्विजादि--शुक्लादि यज्ञे गुणकथासु च । स्तुतौना न स्त्रियां भेद-रूपाक्षरविलेपने ।।"[२] अर्थों में आया है । हेमकोश के अनुसार वर्ण शब्द—"वर्णः स्वर्णे व्रते स्तुतौ । रूपे द्विजादौ शुक्लादौ कुथायामक्षरे गुणे । भेदे गीतक्रमे चित्रे यशस्तालविशेषयोः । अंगरागे च वर्णं तु कुंकुमे ।"[३] अर्थों में माना गया है । इस सब के आधार से स्पष्ट है कि जब कोई भाव, विचार अथवा चेतन-रूप वस्तु, किसी प्रकार का निश्चित रूप या आकार ग्रहण करता है, तो उसे वर्ण कहते हैं । जब आदि प्रजापति ऋषभदेव और उनके चक्रवर्ती पुत्र भरत ने कर्मानुसार मानवों को चार जातियों में विभक्त किया, तो इसका अर्थ था कि उन्हें एक निश्चित रूप दिया । शायद इसी कारण उन्हें वर्ण कहा गया । भेद-प्रभेदों का अर्थ ही एक निश्चित रूप अथवा आकार निर्धारित करना है । फिर वह आकार चाहे मानवों का हो, चाहे यज्ञों का, चाहे रंगों का, चाहे गीतों का, चाहे स्तुतियों का और चाहे अक्षरों का, उन्हें वर्ण संज्ञा से ही अभिहित किया जायेगा ।

अ, क, ख, ग को जब लिपि-रूप प्राप्त हुआ, तब उन्हें वर्ण कहा जाने लगा । किसी विषय विशेष का निरूपण करना वर्णन है और वर्ण उसकी साधन-सामग्री है । अक्षरात्मिका वाक् वर्णमयी है । अक्षरों का आकृति भेद से परिचय करना ही वर्ण-रचना का विषय है । पाणिनि शिक्षा ३ में एक स्थान पर लिखा है–"त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वावर्णाः शम्भुभते मताः । प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ।" यहाँ 'प्रोक्त' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । उच्चारण-जन्य अक्षर प्रोक्त होता है । अतः वर्ण का अर्थ वह आकृतिमान स्फोट है, जिसे स्वयम्भू ने त्रिषष्टि अथवा चतुःषष्टि संख्या में आबद्ध किया है ।

---

१. अमरकोष, २/७/१, पृ. ३२४.

२. मेदिनीकोश, ६३/४६.

३. हैमकोश, २/१५३–१५५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'सरस्वती कण्ठाभरण' में धारापति भोजदेव ने 'ध्वनिवर्णाःपदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् । यस्याः सूक्ष्मादि भेदेन–' लिखते हुए वर्ण को वाणी का द्वितीय चरण माना है ।[1] यह वर्ण ध्वनि से स्थूल है तथा पदवाक्यरचना का आधार है । ध्वनि अस्फुटाक्षर होती है और वर्ण अक्षरात्मकता ग्रहण कर ध्वनि को स्पष्टता प्रदान करते हैं । जैसे संस्कृत की संख्यावाची ध्वनियों को वर्ण एकम्, द्वे, त्रीणि, चत्वारि, पंच, षट्, सप्त, अष्ट, नव आदि आकार देकर स्पष्ट कर देते हैं । इसी प्रकार अंग्रेजी की संख्यावाची ध्वनियों को ए, टू, थ्री, फॉर, फाइव, सिक्स आदि आकार वर्ण ही देते हैं । इसी प्रकार भगवान् की दिव्यध्वनि ने भी वर्णों के माध्यम से ही स्पष्टता प्राप्त की थी । उसे निरक्षरी मानना उपयुक्त नहीं है । भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में लिखा है—

"देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहितिः स्यात् ।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ।।"[2]

अर्थ—किसी-किसी की मान्यता है कि भगवान् की दिव्यध्वनि देवों के द्वारा की जाती है, किन्तु उनका वैसा कथन असत् है । यदि देवकृत मानी जाय तो दिव्यध्वनि देवगुण कहलायेगी, भगवत् गुण नहीं । इसके अतिरिक्त, दिव्य ध्वनि साक्षर-अक्षर रूप होती है, क्योंकि अक्षरों के समूह के बिना अर्थ का परिज्ञान नहीं होता ।

अक्षर समूह को 'अक्षरसमाम्नाय' अथवा 'वर्ण समाम्नाय' कहते हैं । कातन्त्र व्याकरण में 'वर्ण समाम्नाय' का विवेचन है ।[3] शम्भु के मतानुसार 'वर्ण समाम्नाय' में त्रेसठ अथवा चौंसठ वर्ण माने जाते हैं ।[4] गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है, "तेत्तीस वेंजणाहं, सत्तावीसा सरा तहा भणिया । चत्तारि य जोगवहा, चउसट्ठी मूलवण्णाओ ।।"[5] अर्थात् ३३ व्यञ्जन, २७ स्वर (९ ह्रस्व, ९ दीर्घ, ९ प्लुत) और चार योगवाह (अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपपध्मानीय) मिलकर ६४ मूलवर्ण होते हैं । भगवती आराधना में भी इन्हीं मूलवर्णों का विवेचन हुआ है ।[6] ये ६४ मूलवर्ण प्राकृत वर्णमाला के हैं । संस्कृत भाषा की अक्षरमाला में ३३ व्यञ्जन, २२ स्वर (५ ह्रस्व, ८ दीर्घ और ९ प्लुत), ४ योगवाह और ४ युग्माक्षर (यम)—कुल ६३ मूलाक्षर

---

१. देखिए धारापति भोजदेव का सरस्वतीकण्ठाभरण.
२. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, २३/७३.
३. 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' भावसेनकृत कातन्त्रव्याकरण, २
४. पाणिनिशिक्षा–३.
५. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३५२, पृ. २००.
६. भगवती आराधना–१८.

Ganesh Varṇi Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। हिन्दी में ३३ व्यञ्जन, १६ स्वर और ३ युग्माक्षर --५२ मूलवर्ण माने जाते हैं। उर्दू में ३८, अरबी में ३८, फारसी में २४, अंग्रेजी में २६ और फिनिक भाषा में २० अक्षर हैं।

भर्त्तृहरि ने ६४ वर्णवाले 'अक्षर समाम्नाय' को, जो कि समस्त पद, वाक्यरूप वाग् व्यवहार का जनयिता है, अनादि निधन माना है--उसका कोई कर्त्ता नहीं हैं। उनका कथन है– "अस्याक्षरसमाम्नायस्य वाग्व्यवहारजनकस्य न कश्चित् कर्त्ताऽस्ति एवमेव वेदे पारम्पर्येण स्मर्यमाणम् ।।"[1] कातन्त्र व्याकरण में भी 'सिद्धं वर्ण समाम्नाय:' लिखा है। इससे वर्ण समाम्नाय की अनादि निधनता सिद्ध होती है। 'तत्त्वार्थ सार दीपक' की एक पंक्ति 'ध्यायेदनादि सिद्धान्त व्याख्यातां वर्णमातृकाम्' में भी उसे अनादि ही कहा है।[2] ज्ञानार्णव (३८-२) और मन्त्रोच्चार समुच्चय (अ. २) में—"ध्यायेदनादि सिद्धान्त-प्रसिद्ध—वर्णमातृकाम्। नि:शेष शब्दविन्यास-जन्मभूमिं जगन्नुतां ।।" लिखा है। गोम्मटसार में 'वर्ण-समाम्नाय' को यदि एक ओर अनादि माना है तो दूसरी ओर यह भी लिखा है कि वर्ण आकार ग्रहण करते हैं और आकार में परिवर्तन होता है, इस दृष्टि से उसे सादि भी कहा है।[3] ऐसा जैनधर्म की अनेकान्तवादी प्रवृत्ति के अनुकूल भी है।

वर्ण वाक् का मूलाधार है। वर्णों से शब्द बनते हैं और शब्दों से वाक्य।[4] मन के भावों को पूर्ण रूप से समझने-समझाने का साधन है वाक्य। अर्थात् वाक्य किसी-न-किसी अर्थ का बोध कराता है। इसी प्रकार जिस एक अथवा अनेक अक्षर समूह से अर्थ बोध होता है, उसे शब्द कहते हैं। अर्थ-बोध होना ही मुख्य है। अर्थ-बोध के बिना वर्ण, शब्द अथवा वाक्य की कोई गति नहीं। जैसे गौ, यह अक्षरात्मिका वाणी–'सास्नादिमान् पशु'–जिसके गले में कम्बल-सा झूल रहा है–का बोध कराती है। गौ शब्द अपने इस अभिप्रेत अर्थ के लिए ही है। यदि अर्थवत्ता शब्द का प्रयोजन न हो तो शब्दाध्ययन निष्फल है। अत: शब्द-मात्र जान लेना पर्याप्त नहीं, अर्थज्ञान कल्याणकारक है। जिस शब्द का अर्थ-ज्ञान नहीं होता, वह आल्हादक नहीं लगता। उपनिषदों में कहा गया है— "योऽर्थज्ञ: स इत सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा।" इसका अर्थ है कि जो शब्द के अर्थ को जानता है, वह यहाँ सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है और ज्ञान द्वारा पापों का क्षय कर स्वर्ग में ज़ाता है। वेदों के विषय में गीता और

---

१. देखिए भर्त्तृहरि का वाक्यपदीयम्.
२. तत्त्वार्थसारदीपक–३५.
३. भावश्रुत अनादि है और द्रव्यश्रुत सादि है। बृहत् जैन शब्दार्णव, पृ. ३१.
४. "वर्णा: पदानां कर्त्तारो वाक्यानां तु पदावलि:"
तत्त्वार्थसार, वाराणसी–५, २३ वाँ श्लोक, पृ. २१२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपनिषदों का मन्तव्य है कि वैदिक शब्दावली को जानकर उसके अर्थ को जानना चाहिये। यदि ऋचाओं को कण्ठस्थ करना ही वेदज्ञान की परिसमाप्ति मान ली जाय तो यह भ्रान्त धारणा ही होगी। एक श्रुति का कथन है—"स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेदं यो विजानाति नार्थम्।" अर्थात् वह तो भारवाहक ठूंठ ही है, जो वेदपाठी होकर उसका अर्थ नहीं जानता। उपनिषदों के 'अक्षरेण मिमते सप्तवाणी' में सप्तविध वाक् अक्षरों-द्वारा व्यक्त है। यहाँ सप्तविध-वाक् का अर्थ—प्रथमा, द्वितीयादि विभक्तियाँ ही नहीं, अपितु सप्तभंगिमा भी है। भंगिमा का अर्थ है—मोड़। सात मोड़ों से तात्पर्य सात दृष्टिकोणों—अस्ति, नास्ति आदि से किसी वाक् का अर्थबोध कराना है। अर्थ अनक्षरात्मक होता है और वाक् अक्षरात्मक। अक्षरात्मक वाक् से अनक्षरात्मक अर्थ का दोहन ही वाक् का वांछित विषय है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को समझने के लिए 'सोऽहं' तथा 'ओ३म्' का उदाहरण समीचीन होगा। साधक प्रथमावस्था में द्वैत-परिच्छिन्न अथवा माया-शबल होने से अपने को 'सोऽहम्'—वह परमात्मा मैं हूँ—ऐसा सोचता है। उस समय वह परमात्मा के लिए 'सः' पद का प्रयोग करता है। सः उसके लिए कहा जाता है जो दूर अथवा परोक्ष हो। शनैः-शनैः साधक के सिद्धावस्था में पहुँचने पर वह उस परोक्ष को साक्षात् कर लेता है,[1] उस समय वह सोऽहम् के स्थान पर 'ओ३म्' कहता है। 'ओ३म् परमात्मपरक शब्द है तथा संस्कृत में उसका अर्थ 'स्वीकार' है। परमात्मा के साथ अपने ताद्रूप्य स्वीकार को 'ॐ' शब्द से कहा गया है। यहाँ शब्द अपनी पौद्गलिक सीमा से ऊपर उठकर अर्थ की गरिमा से महनीय हो उठा है। इसका यही आशय है कि शब्द-द्वारा अर्थ को प्राप्त करना अभीष्ट है। एतावता शब्द वाहन है और अर्थ गन्तव्य देश-प्राप्ति। यदि शब्द अर्थरूप-गन्तव्य देश प्राप्ति में असमर्थ हैं, तो वे काष्ठनिर्मित उस अश्व के समान हैं, जो नामधारी अश्व तो हैं, परन्तु तदर्थ सम्पादक नहीं। गीता में एक स्थान पर लिखा है—

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।"[2]

अर्थ—चारों ओर भरे हुए जलाशयों में—से, तृषित व्यक्ति को अपने तृषाशमन-मात्र जल की आवश्यकता है। तृषा-पूर्ति होने पर भरे हुए पानी के प्रति उसका

---

१. समाधितंत्र, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, २८ वां श्लोक, पृष्ठ ३६.
और
अध्यात्मरहस्य, वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली, ४४ वाँ श्लोक, पृष्ठ ५४.

२. श्रीमद् भगवगीता. २/४६.८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई प्रयोजन या राग भाव नहीं, उसी प्रकार वेद-प्रोक्त शब्दों से यथार्थ का ज्ञान प्राप्त होने पर विद्वान को उन शब्दों से प्रयोजन नहीं रह जाता। अतः शब्द नौका है और अर्थ तटभूमि।

शास्त्र अर्थवान् होते हैं। अर्थाभिव्यक्ति ही उनका लक्ष्य है। जैन परम्परा में शास्त्र श्रुत कहलाते हैं। श्रुत वन्दनीय है, क्योंकि वह अगाधज्ञान का कोष है। उससे ज्ञानरूप अर्थ की उपलब्धि होती है। यह श्रुत अथवा शास्त्र पद-वाक्यों से बनते हैं और पद-वाक्य वर्णों से रचे जाते हैं। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के कर्त्ता का कथन है—

"वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ।।"[1]

हिन्दी अनुवाद

वर्णों ने पद-वाक्य रचे, वाक्यों ने आगम ।
स्वयं रचित इस आप्त शास्त्र में अहो ! कौन हम ।।

यह पद-वाक्य रूप वाक् ही शास्त्र तथा कला का मुख्य स्रोत है। उसके बिना शास्त्र और कला निरर्थक-से होकर रह जाते हैं। निरर्थक-से क्या, उनकी रचना ही नहीं हो पाती। शायद इसी कारण आदि ब्रह्मा ने सब से पहले वाङ्मय का उपदेश दिया। भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'महापुराण' के सोलहवें पर्व में लिखा है—

"न बिना वाङ्मयात् किंचिदस्ति शास्त्रकलापि वा ।
ततो वाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ।।"[2]

अर्थ—अक्षर तथा अंक रूप वाङ्मय के बिना किसी भी शास्त्र तथा कला की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती—यही विचार कर प्रजापति ने उन्हें प्रारम्भ से वाङ्मय का ही उपदेश दिया।

पं. आशाधर ने शब्द और अर्थ के ग्रहणरूप व्यापार को उपयोग कहा है। उनका कथन है कि श्रुत की दृष्टि से शब्द-गत उपयोगदर्शन और अर्थ-गत उपयोग ज्ञान कहलाता है तथा पुरुष आत्मा दर्शन-ज्ञान रूप है। पं. आशाधर-रचित 'अध्यात्म रहस्य' में लिखा है—

उपयोगश्चितः स्वार्थ-ग्रहण-व्यापृतिः श्रुतेः ।
शब्दगोदर्शनं ज्ञानमर्थगस्तन्मयः पुमान् ।।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३/२२६.
२. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/१०९.
३. पं. आशाधर, अध्यात्मरहस्य, वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली, १४ वाँ श्लोक, पृ. ३५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेख-सामग्री–

ब्यूलर ने लेख-सामग्री के रूप में भोजपत्र, ताड़पत्र, कागज, रुई का कपड़ा काष्ठफलक, चमड़ा, पत्त्थर, ईटें, विभिन्न धातुएँ और स्याही का उल्लेख किया है। डॉ. राजबली पाण्डेय ने इन्हीं को कतिपय अधिक उद्धरणों के साथ प्रस्तुत किया है। कुछ नया नहीं है। नया हो भी नहीं सकता। कुछ कम-बढ़ यही सामग्री थी जो लिखने के काम आती थी। जैन ग्रंथ भी इसी सब पर लिखे मिलते हैं। जैनग्रंथों में कहीं-कहीं सैद्धान्तिक रूप से भी इस सामग्री के प्रयोग का वर्णन मिलता है। सोमसेन ने त्रैवर्णिकाचार में लिखा है कि काष्ठफलक पर अखंड चावलों से अक्षर लिखे और छात्र से लिखवावे। यहाँ चावल लेखनविधि का माध्यम है—

"प्राङ्मुखो गुरुरासीनः पश्चिमाभिमुखः शिशुः ।
कुर्यादक्षरसंस्कारं धर्मकामार्थसिद्धये ।।
विशाल फलकादौ तु निस्तुषाखण्डतण्डुलान् ।
उपाध्यायः प्रसार्याथ विलिखेदक्षराणि च ।।
शिष्य हस्ताम्बुज द्वन्द्व धृत पुष्पाक्षतान् सितान् ।
क्षेपयित्वाऽक्षराभ्यर्णे तत्करेण विलेखयेत् ।।"[1]

अर्थ—अध्यापक पूर्वमुख होकर बैठे और बालक को पश्चिम की ओर मुख कर बिठावे। बाद में धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए अक्षर-संस्कार करे। वह इस प्रकार कि—उपाध्याय एक मोटे काष्ठफलक (पट्टी) पर निस्तुष (छिलके रहित) अखंड चावलों को बिछा कर पहले स्वयं अक्षर लिखे, बाद में उन अक्षरों के पास बालक के हाथ से सफेद पुष्प और अक्षतों का क्षेपण करवाकर, उस बालक के हाथ को अपने हाथ से पकड़े और बालक से अक्षर लिखवावे।

काष्ठफलक पर अक्षराकृति के विधान की बात 'भगवती सूत्र' में भी उपलब्ध होती है। उसमें लिखा है कि प्राचीन समय में काष्ठफलक पर सुधा प्रभृति द्रव्यों का लेपन कर, अंगुली अथवा नाखूनों से अक्षरों की आकृति बनाई जाती थी। —"पूर्वस्मिन् युगे काष्ठफलकादिकं सुधाप्रभृति द्रव्यैरुपलिप्य अंगुलिभिर्नखैर्वा अक्षराणामाकृतिर्वा विधीयते स्मेति प्रतीयते।"[2]

जैन ग्रंथों के अनुसार प्राचीनकाल में अक्षर लिखने का लोकप्रिय साधन काष्ठफलक ही था। उसका सर्वसाधारण में प्रयोग होता था। बालकों को अक्षरारम्भ उसी पर करवाया जाता था। बड़े घरों (सेठ, सामन्त और राजा)

१. सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१७४-१७६.
२. देखिए 'भगवती सूत्र' की संस्कृत व्याख्या.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में उन पर कुंकुम और सुधा आदि का लेप होता था किन्तु साधारण जनसाधारण रोगन कर खड़िया से लिखते थे। कात्यायन ने व्यवस्था दी थी कि—वादों का विवरण काष्ठफलक पर खड़िया से लिखना चाहिए।[१] नगर निगमों में ऐसे काठ के पट्ट रंगे रहते थे, जिन पर खड़िया से लेन-देन का ब्यौरा लिखा जाता था।

अभी तक भारतीय शोध-खोजों में ऐसा कोई ग्रंथ नहीं मिला है, जो कि काष्ठफलकों पर लिखा गया हो। डॉ. विण्टरनित्स ने काष्ठफलक पर लिखा हुआ एक भारतीय ग्रंथ वोडलीन पुस्तकालय में देखा था।[२] बर्मा में ऐसे ग्रंथ बहुत मिले हैं।[३] हो सकता है कि यहाँ भी लिखे जाते रहे हों, किन्तु प्रचलन कम ही रहा होगा, ऐसा लगता है।[४]

जैन ग्रंथों के अनुसार लेखन कार्य के लिए स्वर्णपट्टों का भी अधिक प्रयोग होता था। सोमसेन ने 'त्रैवर्णिकाचार' में जहाँ काष्ठफलक पर निस्तुषाखण्ड तण्डुलों से लिखने की बात कही है, वहाँ उन्होंने विकल्प में हेमपीठ पर कुंकुम का लेप कर स्वर्णलेखनी से अक्षराकृति के विधान का भी उल्लेख किया है। उनका कथन है—

"हेमादिपीठके वाऽपि प्रसार्य कुंकुमादिकम्।
सुवर्णलेखनीकेन लिखेत् तत्राक्षराणि वा॥
नमः सिद्धेभ्यः इत्यादौ ततः स्वरादिकं लिखेत्।
अकारादि हकारान्तं सर्वशास्त्रप्रकाशम्॥"[५]

इसका अर्थ है कि सोना-चाँदी आदि के बने हुए पाटे पर कुंकुम-केशर आदि का लेप कर, सोने की लेखनी से उस पर अक्षर लिखे और बालक से लिखवावे। अक्षर लिखते समय सब-से पहले 'नमःसिद्धेभ्यः' लिखे। इसके बाद, अकार को आदि लेकर 'ह' कार पर्यन्त—सब शास्त्रों को प्रकाशित करने वाले स्वर और व्यञ्जन लिखे और बालक से लिखवावे।

पं. आशाधर ने 'प्रतिष्ठापाठ' में 'ॐ, ह्री, श्रीं, अर्हं नमः' मंत्र को एक यंत्र पर लिखकर एक सौ आठ बार जपने का निर्देश किया है। यंत्र स्वर्ण पात्र पर बनाया जाये और उस पर, पद्मरागमणि के समान प्रभा वाले लोंग के फूलों

---

१. बरनेल, 'एलीमेण्टस् ऑव साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी', पृ. ८७, N २.

२. व्हूलर, भारतीयपुरालिपिशास्त्र, वाराणसी, पृ. १९२.

३. बरनेल, 'एलीमेण्टस् ऑव साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी', पृ. ८७

४. 'भगवती सूत्र' के विविध उद्धरणों से विदित है कि कुछ जैन उल्लेख काष्ठफलकों पर उकेरे गये थे।

५. सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१७७, १७८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से बने कुंकुमादि से उपर्युक्त मंत्र लिखा जाये। उन्होंने लिखा है—

"कुंकुमाद्यैर्लिखेद् यन्त्रं पात्रे स्वर्णादि निर्मिते।
लवंगादि भवैः पुष्पैः पद्मराग सम प्रभैः ॥"[1]
'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमो मन्त्रं जपेदष्टोत्तरं शतम्।

पं. आशाधर ने ही 'प्रतिष्ठापाठ' में एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि निवास भूमि के अग्रभाग में एक बिम्ब की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, जिस पर स्वर्ण-लेखनी से सुन्दर अक्षरों में यंत्र बनाया गया हो। उस भूमि में विराजमान वह आचाल्य विम्व ऐसा ही है, जैसे मनः प्रसत्ति में रहस्य। ऐसी भूमि श्लाघनीय होती हैं—

"आचाल्य बिम्बेऽग्रनिवासभूमौ
विलेखनीयं पटुर्नस्विकेन।
सुवर्णलेखन्यजयन्त्रधार्या
श्लाध्या रहस्येव मनः प्रसत्तौ ॥"[2]

भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में वर्णमाला का ज्ञान कराने के लिए स्वर्णपट्ट के प्रयोग की बात लिखी है। भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थीं—ब्राह्मी और सुन्दरी। एक दिन दोनों को बुलाकर भगवान् ने कहा कि हे पुत्रियो! तुम दोनों के विद्याग्रहण करने का यही समय है, अतः तुम दोनों विद्या-ग्रहण करने में प्रयत्न करो। भगवान् ने ऐसा कहकर तथा बार-बार आशीर्वाद देकर विस्तृत स्वर्णपट्ट पर अ, आ आदि वर्णमाला तथा इकाई-दहाई अंकों को स्वयं लिखा, फिर उनसे लिखवाया।

"तद्विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुत युवाम्।
तत्संग्रहण कालोऽयं युवायोर्वर्ततेऽधुना ॥
इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ॥
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम्।
उपादिशल्लिपिं संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात् ॥"[3]

स्वर्ण पट्टों के साथ रजत पत्रों का भी प्रचलन था। उन पर या तो 'नमस्कार मंत्र' (णमोकार मंत्र) लिखा होता था अथवा कोई यंत्र (ऋषिमण्डल आदि) खुदा होता था।[4] यंत्र के आकार के बीच में तत्सम्बन्धी मंत्र तथा उसके अक्षर

१. पं. आशाधर, प्रतिष्ठापाठ, १३२, पृ. ४१६-१७.
२. पं. आशाधर, प्रतिष्ठापाठ, १३२, पृ. ४१५.
३. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/१०२-१०४.
४. ओझा, प्राचीनलिपिमाला, पृ. १५२, पादटिप्पड़, ५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहते ही हैं, यह नियम है। आज भी अधिकांश जैन यंत्र 'रजत पत्रों' पर ही लिखे जाते हैं। उन्हीं को शुभ माना जाता है।

स्वर्णपट्ट के बाद ताम्रपत्र अथवा ताम्रशासन का अधिक प्रयोग होता था। प्राचीन जैन ताम्रपत्रों से स्पष्ट है कि अधिकांश रूप से उन पर दान घोषणाएँ होती थीं। प्रारम्भ में दान देने वाले की प्रशस्ति, फिर दान की मिकदार-ग्राम, स्वर्ण और रजत और तत्पश्चात् दान ग्रहण करने वाले का नाम और परिचय आदि रहता था। वजीरखेड (नासिक-महाराष्ट्र) में प्राप्त तीन ताम्रपत्रों में लिखा है कि—राज्याभिषेक के समय, स्वर्ण तुलादान के अवसर पर, इक्कीस लाख द्रम्म आय वाले ६५० गाँव दान दिये गये। इसी में जैन द्रविड़ संघ के वर्द्धमान गुरु को दो गाँव दिये जाने का भी उल्लेख है।[१] कादलूर (मांडया-मैसूर) में नौ ताम्रपत्र मिले हैं। इन पर प्रारम्भ में गंगवंश के राजाओं की वंशावली दी है, तत्पश्चात्, कोंगल देश में निर्मित जिन मंदिर के लिए सूरस्तगण के एलाचार्य को कादलूर ग्राम दान में दिये जाने की बात लिखी है।[२] डॉ. वासुदेवसिंह ने अपने ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन' में प्रारम्भिक ईसवी सन् के अनेक ताम्रपत्रों को मूलरूप में प्रस्तुत किया है। सभी में धार्मिक कार्यों के लिए दान देने का उल्लेख है।[३] उन्होंने लिखा है कि दान तथा धार्मिक वृत्तान्त लिखने के लिए ताम्रपत्रों का प्रयोग होता था। वे तो अशोक-पूर्व युग के पिपरावा (उत्तर प्रदेश) के 'सोहग्रारा ताम्रपत्र' से ईसवी-पूर्व पाँच सौ के लगभग लेखन कला के प्रचार को प्रमाणित करते हैं।[४] जिन-मंदिरों में तांबा और पीतल मिला कर बनाये गये प्लेट्स भी बहुत मिलते हैं, जिन पर धार्मिक सूत्र खुदे हुए हैं। सातवीं सदी ईसवी की पीतल की बनी लगभग सभी मूर्त्तियाँ जैन मूर्त्तियाँ हैं और उन पर खुदे मूर्त्तिलेख जैन लेख हैं।

उत्तरवर्त्ती काल में तीलियों से तालपत्र (ताड़पत्र) पर लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ, और वहाँ से ही 'लिख विलखने' प्रसिद्ध हुआ। भगवती सूत्र में लिखा है—"तत्पश्चादुत्तरवर्त्तिनि युगे शंकुभिस्तालपत्रेषूत्कीर्य लेखनं प्रवृत्त-मिति लेखन शब्दस्य (लिख विलखने धातुः) विलेखनार्थपरत्त्वात् विज्ञायते।"[५] ताड़पत्र मूलरूप से दक्षिण में पैदा होता था। वहाँ से भारत के दूसरे देशों में

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, जोहरापुर-सम्पादित, वाराणसी, पृ. १५.

२. वही, पृ. २१.

३. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ. ४६.

४. देखिए वही, पृ. २४०.

५. भगवती सूत्र, संस्कृत व्याख्या.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फैला। बौद्ध ग्रन्थ त्रिपिटक इसी पर लिखे गये थे।[1] दिगम्बर जैन धर्म के प्राचीन ग्रंथ जयधवल और महाधवल भी ताड़पत्रों पर लिखे गये थे।

सूती और रेशमी कपड़ों पर भी ग्रन्थ लिखे जाते थे। व्हूलर को जैसलमेर के 'बृहज्ज्ञानकोष' में रेशम की एक पट्टी पर लिखी जैन सूत्रों की सूची प्राप्त हुई थी।[2] इस पर रोशनाई से लिखा गया था। पीटरसन को अणहिलवाद पाटण में कपड़े पर लिखा एक जैन ग्रंथ धर्मविधि, जिसके रचयिता श्रीप्रभसूरि थे, प्राप्त हुआ था। इस ग्रंथ में ९३ पृष्ठ हैं और उनकी चौड़ाई लगभग १३ इंच है।[3] ऐसे ग्रंथों के संदर्भ में डॉ. राजबली पाण्डेय का कथन है, "At Present in Jain Temples a number of papers are found, containing Mandalas and figures made at the time of the concecration of temples"[4]

कभी शिलालेखों पर भी ब्राह्मीलिपि में ग्रंथ लिखने का रिवाज था। जैन आचार्यों ने उसे सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है—

"शुभे शिलादौ उत्कीर्य श्रुतस्कन्धमपि न्यसेत्।
ब्राह्मीन्यासविधानेन श्रुतस्कन्धमिह स्तुयात ॥
सुलेखकेन संलिख्य परमागमपुस्तकम्।
ब्राह्मीं वाश्रुतपञ्चम्यां सुलग्ने वा प्रतिष्ठयेत् ॥"[5]

अर्थ—शुभ मुहूर्त में शिलादि में उत्कीर्ण करके श्रुतस्कन्ध की भी स्थापना करे, फिर ब्राह्मी के न्यास विधान से उसकी स्तुति करे। सुलेख-पूर्वक परमागम पुस्तक अथवा ब्राह्मी लिखकर श्रुतपंचमी के शुभ मुहूर्त में उसकी स्थापना करनी चाहिये। जैन समाज में आज भी श्रुतपंचमी के दिन बालक को पाँच वर्ष की आयु में अक्षराभ्यास का मुहूर्त कराये जाने की प्रथा है। यह प्रथा तीर्थंकर वृषभदेव से प्रारम्भ हुई और सतत चल रही है।

आज अनेक जैन ग्रन्थ कागज़ों पर लिखे मिलते हैं, किन्तु वे अधिक प्राचीन नहीं हैं। भारत की जलवायु में कागज़ कालान्तर तक नहीं चल पाता, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सिकन्दर के साथ आये नियरकस (327 B. C.)—एक ग्रीक लेखक ने यहाँ जो रुई से तैयार कगज़ पर लोगों को लिखते देखा,[6]

---

१. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ. १९३.
२. देखिए वही, पृ. १९१.
३. इसका लेखन-काल १३६१-६२ ई. सन् माना गया है। देखिए—इण्डियन पेलियोग्राफी, डा. राजबली पाण्डेय, पृ. ७२-७३.
४. वही, पृ. ७३.
५. पं. आशाधर, प्रतिष्ठापाठ, ६।३३-३४.
6. Starbo, xv, 717.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह गलत था। उस समय के लिखे ग्रंथ तो अब नहीं मिलते, वे भारतीय जलवायु के कारण नष्ट हो गये होंगे, स्वाभाविक है। कागज़ पर लिखने की बात काशगर (मध्य एशिया) से प्राप्त एक भारतीय ग्रंथ से भी होती है। यह पाँचवीं शताब्दी में, गुप्ता पीरियड में, गुप्ता लिपि में लिखा गया था[१]। राजा भोज (११वीं शती) के भोजप्रबन्ध से भी सिद्ध है कि कागज़ लेखन के काम आता था।[२] आज वे ग्रंथ यहाँ भले ही न मिलें, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस समय कागज़ का प्रचलन नहीं था।

'एलबरूनीज इण्डिया'[3] में लिखा मिलता है कि बौद्ध और जैन ग्रंथ प्रायः भोजपत्रों पर लिखे गये। आज भी जैन ग्रन्थ-भण्डारों में भोजपत्रों पर लिखे अनेक प्रसिद्ध जैन ग्रंथ मिलते हैं। अतः कालिदास के 'कुमारसम्भव'[४] में यह कथन कि भोजपत्र पर केवल प्रेमपत्र ही लिखकर भेजे जाते थे, उचित नहीं है। अमरकोष में—जो कि एक जैन ग्रंथ था और जिसके रचयिता अमर नाम के जैन साधु थे—भोजपत्र का उल्लेख आया है। उसमें लिखा है, "भर्जेचर्मिमृदुत्व चौ।"[५] भोजपत्र हिमालय के उत्तुंग प्रदेश में उत्पन्न होता था। पहले इसका प्रचलन उत्तर पश्चिमी भाग तक सीमित था, फिर और भागों में भी फैल गया।[६] सिकन्दर के आक्रमण के समय उसका प्रचार था।[७] श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का कथन है कि भोजपत्र पर खरोष्ठी लिपि में लिखा सब से प्राचीन ग्रंथ 'धम्मपाद' प्राप्त हुआ है। भोजपत्र पर लिखा इससे अधिक प्राचीन ग्रंथ और नहीं मिला। इसकी रचना ईसा से दो या तीन शताब्दी पूर्व हुई थी।[८]

जैन लेखक अपने ग्रन्थों में रंगीन स्याही का प्रयोग करने में निपुण थे।[९] उन्होंने प्रायः ग्रंथों के अन्त में पीली और हरी स्याही से लिखा है। बीच-बीच में सुनहली स्याही से लिखने का उनका स्वभाव-सा था। प्रारम्भिक पंक्तियाँ प्रायः लाल स्याही से लिखी मिलती हैं।[१०] 'कथा सरित्सागर' के रचयिता सोमदेव

---

१. व्हूलर, पुरालिपिशास्त्र, पृ. १९९.
2. Rajendralal Mitra, gough's papers, 16.
3. Alberuni, India (Sachau) I, 171.
४. न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र, भूर्जत्वचः कुञ्जरविन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्ग लेखक्रिययोपयोगम्॥ कुमारसम्भव १/७.
५. अमरकोष, २/४/४६.
6. Gough's papers, 17.
७. इण्डियन पेलियोग्राफी, डा. पाण्डेय, पृ. ६७.
८. ओझा, प्राचीनलिपिमाला, पृ. १४४.
9. Rajendralal Mitra, Notices of sanskrit M. S. S. 3, PL I.
१०. ओझा, प्राचीनलिपिमाला, पृ. १५६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का यह कथन कि लाल अक्षरों के लिए खून का प्रयोग होता था, ठीक नहीं है। जैन और अजैन कोई ग्रंथ ऐसा नहीं है, जिसमें खून का प्रयोग किया गया हो। स्याही के अभाव में भी रुधिर का प्रयोग ग्रंथ लेखन में नहीं हुआ। प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए कुछ साथी रुधिर से हस्ताक्षर करते थे और वह प्रतिज्ञा भी रुधिर से लिख लेते थे। भारत के अति प्राचीन काल में लाल स्याही के बदले सिंदूर और हिंगुल का प्रयोग होता था।[१] मजीठ का प्रयोग भी अधिक किया जाता था।

स्याही के संदर्भ में ऐतिहासिकता की बात करते हुए ब्हूलर ने लिखा है, "निआर्कस और कर्टिस के इस कथन से कि हिन्दू रुई के कपड़े और पेड़ की छाल, अर्थात् भोजपत्र पर लिखते थे—प्रतीत होता है कि वे ईसवी-पूर्व चौथी शती में स्याही का प्रयोग करते थे। अशोक के आदेश लेखों में कभी-कभी कुछ अक्षरों में फन्दों के स्थान पर बिन्दियां मिलती हैं। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है।"[२] इसके अतिरिक्त एक प्राचीन उदाहरण अंधेर का धातुकलश भी है, जिस पर स्याही से अक्षर लिखे हुए हैं। यह ईसवी-पूर्व दूसरी शती का उदाहरण है।[3] ईसा-पूर्व लिखे गये गृह्य सूत्रों में भी मषि शब्द का प्रयोग हुआ है।[४]

मषि शब्द 'मष् हिंसायाम्' से बना है। इसका अर्थ है—मसलना, जिसको अंग्रेजी में Crushing अथवा Poundiog भी कहते हैं। भारत के कुछ भागों में स्याही के लिए 'मेला' शब्द का प्रयोग हुआ है। बेनफे, हिक्स और बेबर ने मषि के लिए एक ग्रीक व्युत्पत्ति ढूंढने का प्रयास किया है, किन्तु ब्हूलर का कथन है कि मेला शब्द प्राकृत के 'मैल' से बना है, जिसका अर्थ होता है गंदा, काला।[५] डॉ. राजबली पाण्डेय का मत है कि यह संस्कृत की धातु 'मेल' से बना है, जिसका अर्थ है—सम्मिश्रण।[६] स्याही, पानी, गोंद और शक्कर आदि मिला कर ही तैय्यार होती है। मेला शब्द का ज्ञान सुबन्धु को था। उसने 'मेलानन्दायते' का प्रयोग किया है। मेलानन्द Inkpot को कहते हैं। संस्कृत के लेखकों को 'मेला' शब्द का ज्ञान था। अमरकोष में एक त्रिकाण्डकोष का उद्धरण दिया हुआ है— "मेला मसीजलं पत्राञ्जनं च स्यान्मसिर्द्वयोः इति त्रिकाण्डशेषः"[७] एक दूसरे कोष

१. ब्हूलर, भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ. २०१.
२. देखिए, वही, पृ. २००.
३. देखिए, वही, पृ. २००.
४. वही, पृ. १९९.
५. वही, पृ. २००
6. But a more plausible derivation of the term 'Mela' is from the Sanskirit root 'Mel' (to mix). The word 'Mela' obviously means the state of being mixed, implying the mixing of many ingredients in the preparation of Ink." —Dr. Pandey, Indian Palaeography, P. 84.
७. अमरकोष, ३/५/१०, त्रिकाण्डकोष, २/८/२७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में लिखा है, "मलिनाम्बुः कांचनिका मेला धातुपलः पुमान् । क्लीबे पत्राञ्जनं च स्यात् ।।" दवात के लिए कोषकल्पतरु में 'मेलान्धुर्मषिकूपिका'[१] आया है। इसके अनुसार मेलान्धु और मषिकूपिका दवात को कहते थे। इसके अतिरिक्त मेलानन्दा, मेलांधुका, मसिपात्र और मसिभांड आदि का भी विभिन्न ग्रंथों में प्रयोग हुआ है।

लेखनी के लिए वर्णक शब्द का प्रयोग होता था। अमरकोष और मेदिनीकोष दोनों में 'वर्णक' ही आया है।[२] जहाँ रंग भरने की बात होती थी, वहाँ लेखनी को अमरकोष में "एषिका तूलिकासमे" लिखा है।[३] इसका एक तीसरा नाम शलाका भी था। जैन ग्रंथों में उसका अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। मालती माधव में–'अयस्कान्तमणि शलाका' आया है।[४] दशकुमार चरित में वर्णवर्तिका शब्द का प्रयोग मिलता है।[५] जहाँ शिलास्तम्भों पर लेखन का प्रश्न था, वहाँ छैनी से काम लिया जाता था। लेखनी शब्द सभी में प्रचलित था।

लिपि की प्राचीनता

पाश्चात्य विद्वान् भारतीय लिपि की प्राचीनता के सन्दर्भ में पहला उद्धरण अशोक के शिलालेखों को मानते हैं। इसके पूर्व का कोई उद्धरण उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था। अशोक के शिलालेखों का समय ईसा-पूर्व तीन सौ वर्ष कूता जाता है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी 'प्राचीन लिपिमाला' में अशोक से भी पूर्व के दो उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। पहला है–नैपाल की तराई में स्थित पिप्रावा नामक स्थान के एक स्तूप के भीतर से प्राप्त ताम्र-पत्र पर खुदा एक लेख। इस पात्र में बुद्धदेव की अस्थियाँ रक्खी हुई थीं और उसके ऊपर एक लेख खुदा हुआ था–"इदं शरीर निधानं बुद्धस्य भगवतः शाक्यानां।" इस ताम्रपत्र का समय ईसा-पूर्व चार सौ वर्ष माना गया है।[६] इस प्रसंग में डॉ. वासुदेवसिंह ने अपने ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन' में लिखा है, "ऐसे पात्रों पर उपलब्ध लेखों में पीपरावा (बस्ती-उत्तरप्रदेश) का पात्र-लेख सब-से-पुराना है, जिस पर अशोक से पूर्व लिपि में लेख अंकित है।"[७]

१. कोषकल्पतरु, देखिए 'धी' वर्ग.
२. अमरकोष, ३/५/३८, मेदिनीकोष, १३/१५३-१५४.
३. अमरकोष, ३/१०/३२.
४. मालती माधव, १/२.
५. दशकुमारचरित, उच्छ्वास २.
६. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ. ३१-३२
७. वही, पृ. ४२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओझाजी ने दूसरा उद्धरण अजमेर जिले के वड़ली ग्राम में स्थित एक छोटे-से शिलालेख को माना है। वड़ली (वरली) गाँव अजमेर से छब्बीस मील दक्षिण-पूर्व में है। यह शिलालेख एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख का खण्ड है। इसकी पहली पंक्ति में—वीर (ा) भगव(त) और दूसरी पंक्ति में चतुरासिति व (स) खुदा है। इस पर ओझाजी का अभिमत है, "इस लेख का ८४ वाँ वर्ष जैनों के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण संवत् का ८४ वाँ वर्ष होना चाहिए। अनुमान ठीक हो तो यह लेख ई. पूर्व (५२७–८४=४४३) का होना चाहिए। इसकी लिपि अशोक के लेखों में प्रयुक्त लिपि से पूर्व की प्रतीत होती है। इसमें वीराय का वी अक्षर 'δ' है। उक्त वो में जो ई मात्रा चिह्न है, वह अशोक के लेखों में अथवा उसके उत्तरवर्ती किसी लेख में नहीं मिलता। अतएव वह चिह्न अशोक से पूर्व की लिपि का होना चाहिए। अशोक के समय में ई मात्रा के लिए 'ᐡ' चिह्न व्यवहार में आने लगा था।"[1] एक पत्र में प्रकाशित इस लेख का उद्धरण और टिप्पड़ इस प्रकार दिया है— "......विरय भगव (त) ....थ....चतुरासि तिव (स)......(का) ये सालिमालिनि .....र निविठमाझिमि के" इसका अर्थ है—भगवान् वीर के लिए.....८४वें वर्ष में मध्यमिका के....। इस पर, उस पत्र के सम्पादक का टिप्पड़ है, "यह शिलालेख महावीर-संवत् ८४ का है। आजकल यह अजमेर संग्रहालय में है। अजमेर से २६ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित वरली से यह प्राप्त हुआ था। शिलालेख में उल्लिखित माध्यमिका चित्तौड़ से ८ मील उत्तर स्थित नगरी नामक स्थान है। यह भारत का प्राचीनतम शिलालेख है।"[2]

यदि सुदूरवर्ती भारत में झांकें तो मोहन-जो-दरो और हरप्पा की खुदाइयों में प्राप्त मोहरों और फलकों पर खुदे लेख प्राचीनतम भारतीय लिपि के चिह्न हैं। उन पर अंकित आकारों की कायोत्सर्ग मुद्रा और वैराग्यपूर्ण ध्यानावस्था से पुरातत्त्वज्ञों ने उन्हें जैन तीर्थंकर माना है और उन पर खुदे लेखों को जैन लेख। डॉ.प्राणनाथ ने एक लेख पर 'ॐ जिनाय नमः' पढ़ा है। लिपि का पढ़ा जाना विवादग्रस्त हो सकता है, किन्तु वह लिपि तो है ही, इसमें किसी को विवाद नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि ईसा से ३००० तीन सहस्र वर्ष पूर्व के भारतवासियों को लिपि-ज्ञान था। डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने अशोक के शिलालेखों की सुविदित ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध सिन्धुघाटी (मोहन-जो-दरो और हरप्पा) की लिपि से जोड़ा है। उनका कथन है—

"There is a superfieial agreement between this youngest or linear phase of Mohan-Jo-dro writing of the period before 1500 or 2000 B. C. and the Brahmi Script of the 3rd Century B. C. Some of the Mohan-Jo-dro Signs resemble or are

१. ओझा, प्राचीन लिपिमाला, पृ. २-३.

२. वह 'एक पत्र' मुनिश्री विद्यानन्दजी के पास सुरक्षित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

almost identical with Brahmi letters. Some others are a bit Complicated. what is most important, in some of the Mohan-Jo-dro signs, it would oppear that the Brahmi charactestic of tagging on vowel signs to the Consonent letters is also found, besides combinations of two or more consonents."[१]

इसका हिन्दी अर्थ है—ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी की ब्राह्मी लिपि और मोहन-जो-दरो लिपि के १५०० या २००० ईसवी-पूर्व के कनिष्ठ अथवा उत्तरवर्ती रूपों में विशेष समानता है। मोहन-जो-दरो लिपि के कुछ चिह्न ब्राह्मी वर्णों के सदृश हैं अथवा लगभग वही हैं। कतिपय अन्य जटिल अवश्य हैं। दो या अधिक व्यञ्जनों के संयोजन के अतिरिक्त, व्यञ्जन वर्णों में स्वर-मात्राओं के लगाने की ब्राह्मी विशिष्टता भी मोहन-जो-दरो लिपि में प्राप्त होती है।

डॉ. उदयनारायण तिवारी ने भी अपने ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा: उद्‌गम और विकास' में ऐसी ही मान्यता स्थापित की है। उनका कथन है, "इसका प्राचीनतम रूप सिन्धुघाटी लिपि में उपलब्ध होता है और वस्तुत: यही लिपि (सिन्धु घाटी लिपि) चित्र, भाव तथा ध्वन्यात्मक लिपि की विभिन्न अवस्थाओं से होती हुई ब्राह्मीलिपि में परिणत हुई थी।"[२]

निम्नांकित तुलनात्मक चार्ट से यह स्पष्ट हो जायेगा —

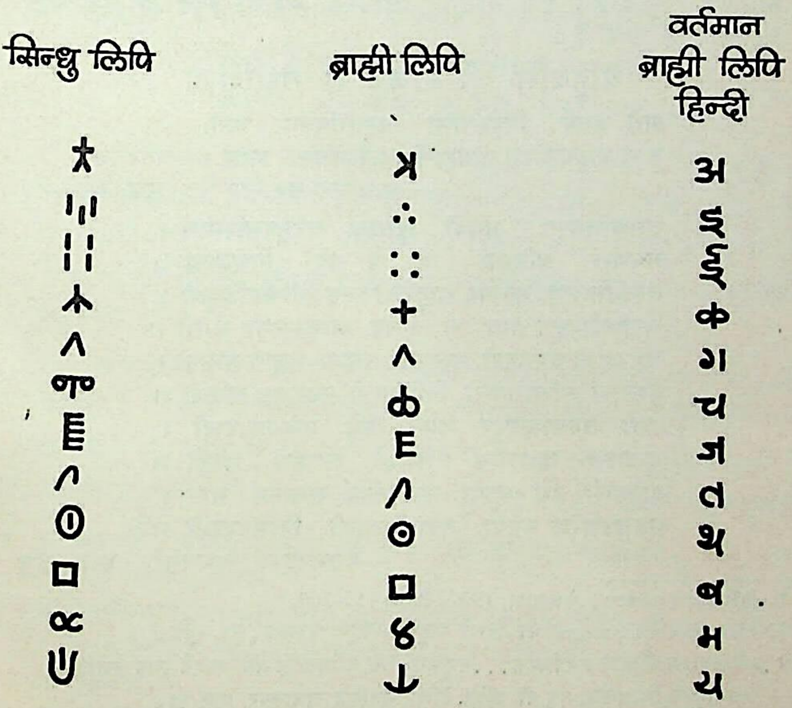

1. Dr. Suniti Kumar Chatterji, Indian system of writing, Publication division, Govt- of India, 1966, P. 9.

२. डा. उदयनारायण तिवारी, 'हिन्दी भाषा : उद्‌गम और विकास', पृ. ५८०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिन्धु घाटी की सभ्यता भारतीय सभ्यता थी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उसका प्रचार-प्रसार समूचे भारत में था। आगे पनपने वाली भारतीय सभ्यता में भी उसके चिह्न निःशेष नहीं हुए, यह आज की शोध-खोजों से प्रकट है। राय बहादुर प्रो. रामप्रसाद जी चंदा का अभिमत है कि मोहन-जो-दरो और मथुरा की जैनमूर्त्तियों में हू-ब-हू समानता है। अर्थात् वैसी ही कायोत्सर्ग मुद्रा, वैसी ही ध्यानावस्था और वैसी ही वैराग्य दृष्टि। यद्यपि मिश्र और ग्रीक की प्राचीन मूर्त्तियों की भी कायोत्सर्ग मुद्रा है, किन्तु वैराग्यपूर्ण ध्यानावस्था नहीं। यह बात केवल जैन मूर्तियों में ही प्राप्त होती है, अन्यत्र नहीं।[1] डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने अपने ग्रन्थ 'Hindu Civilization' में भी मोहन-जो-दरो और मथुरा की जैन मूर्त्तियों में साम्य स्वीकार किया है।[2] ऋषभदेव की जिस खड्गासन प्रतिमा को खारवेल राजगृह से पुनः वापिस कलिंग में ले गया,[3] वह भी मोहन-जो-दरो मूर्तियों की प्रतिकृति-सी थी। मोहन-जो-दरो और हरप्पा की खुदाइयों में जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियों की उपलब्धि विवादग्रस्त नहीं है। पुरातात्त्विक दृष्टि से दर्पणवत् स्पष्ट है। यह सिद्ध है कि सम्राट ऋषभदेव ने अपने पुत्र बाहुबली को सीमा प्रान्त, पंजाब और सिन्ध की दिशा का पूरा राज्य बँटवारे में दिया था। यदि वहाँ जैनधर्म और संस्कृति विकसित हुई हो तो वह प्रश्नवाची नहीं है।

जहाँ की सभ्यता इतनी समुन्नत हो, वहाँ के निवासियों को लिपिज्ञान न हो, कैसे सम्भव है? तो, भारतीय लिपि की कहानी बहुत दूर तक चली गई है, यह सत्य है।

बाहुबलि की राजधानी तक्षशिला

"ततो भगवं विहरमाणो बहलीविसयं गतो,
तत्थ बाहुबलीस्स रायहाणी तक्खसिला णामं।

—आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, पृष्ठ १८०-८१

उसभजिणस्स भगवो पुत्तसयं चदसूरसरिसाणं।
समणत्तं पडिवन्नं सए य देहे निखयक्खं ॥
तक्खसिलाए, महप्पा, बाहुबली तस्स निच्चपडिकूलो।
भरहनरिंदस्स सया न कुणइ आणा-पणा मं सो ॥
अह रुट्ठो चक्कहरो, तस्सुवरिं सयग साहण समग्गो।
नयरस्स तुरियचवलो, विणिग्गओ सयलबल सहिओ ॥
पत्तो तक्खसिलपुरं जयसद्दुग्घुट्ठ कलयलारावो।
जुज्झस्स कारणत्थं सन्नद्धो तक्खणं भरहो ॥
बाहुबली वि महप्पा, भरहनरिंदं समागयं सोउ।
भडचडयरेण महया, तक्खसिलाओ विणिज्जाओ ॥"

—पउमचरियं, विमलसूरि, ४-३७-४१

1.. Modern review, August, 1932, Page 155-160.

2. 'Hindu Civilisation' का हिन्दी अनुवाद—'हिन्दू सभ्यता', पृ० २७५.

३. "नन्दराज नीतानि अग जिनस...नग मह रतन पडिहारेहि अंग मागधे वसवु नेयाति।"
हाथीगुम्फ शिलालेख, १२ वीं पंक्ति, देखिए जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग १६, किरण २, पृष्ठ १३४.

और

Dr. Boolchand Jain, 'Jainism in Kalingdesa', 'Jain cultural research society', Banaras Hindu University, Bulletin No. 7, P. 10.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्राह्मी लिपि

ब्राह्मी शब्द और उसका प्रयोग

ऋग्वेद में ब्राह्मी शब्द आया है जिसे मातरः कहा गया है। अर्थात् माता के अर्थ में ब्राह्मी का प्रयोग होता था। ऋग्वेद की वह ऋचा इस प्रकार है––

"अमी ब्रह्मीरनूषत् ब्रह्मीर्ऋतस्य मातरः
मर्भृज्यते दिवः शिशुम् ।।"

––ऋग्वेद ९/३३/५, चतुर्थ भाग, पूना

इस ऋचा से स्पष्ट है कि मातरः के अर्थ में ब्राह्मी शब्द का नहीं, अपितु ब्रह्मी शब्द का प्रयोग हुआ था। 'अमरकोषकार' ने इसी अर्थ में ब्राह्मी शब्द का प्रयोग किया, जैसा कि 'ब्राह्मीत्याद्यस्तु मातरः'[1] से स्पष्ट है। 'अमरकोषकार' ने ब्राह्मी शब्द का प्रयोग 'सोमवल्लरी, और 'भाषा तथा लिपि' के अर्थ में भी स्वीकार किया है। सोमवल्लरी के लिए उन्होंने लिखा है, "ब्राह्मी तु मत्स्याक्षी वयस्था सोमवल्लरी।"[2] भाषा और लिपि को बताने वाली उनकी पंक्तियां हैं:—

"ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती ।
व्यवहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः ।।"[3]

इसकी पहली पंक्ति का विश्लेषण करते हुए एक व्याख्याकार ने लिखा है—"ब्राह्मी द्वारा लोक में प्रचारित होने से ब्राह्मी, भारत में बोले जाने से भारती, मुख से उच्चार्यमाण होने से भाषा, शब्दार्थों का निगरण करने से गीः अथवा गिरा, उच्चरित होने से वाक्, शब्दार्थ के सम्भवन से वाणी तथा गतिशीलता से सरस्वती कहलाती है।"

आचार्य हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिंतामणि' में ब्राह्मी शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। उन्होंने रोहिणी नक्षत्र के दो नाम बताये—ब्राह्मी और रोहिणी।[4] मातरः के अर्थ में भी उन्होंने ब्राह्मी शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने लिखा कि शिवजी के परिकर में ब्राह्मी आदि सात माताएँ हैं—ब्राह्मी, सिद्धी, माहेश्वरी, कौमारी,

१. अमरकोष, १/१/३५, मिलाइए 'ब्रह्माण्याद्याः स्मृताः सप्तदेवता मातरो बुधैः इति हलायुधः', १/१७.

२. अमरकोष, २/४/१३७, मिलाइए, 'ब्राह्मी तु भारती। शाकभेदःपंकगण्डी हज्जिका सोमवल्लरी। ब्रह्मशक्ति इति हैमः, २/२३२-३३ तथा 'ब्राह्मी तु भारती सोमवल्लरी ब्रह्मशक्तिषु' इति मेदिनी।

३. अमरकोष, १/६/१, मिलाइए 'ब्रह्माणी वचनं वाचा जल्पितं गदितं गिरा, इति शब्दार्णवः (४)' तथा 'ब्राह्मी तु ब्रह्मशक्तिः स्यान्मत्स्याक्षी भारती च सा' इति नानार्थरत्नमाला

४. 'कृत्तिका बहुलाश्चाग्निदेवा ब्राह्मी तु रोहिणी', अभिधान चिन्तामणि, २/२३, पृ० २३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा।[१] हेमचन्द्र ने सरस्वती के नौ नाम बताये—वाक्, ब्राह्मी, भारती, गौः, गीः, वाणी, भाषा, सरस्वती और श्रुत देवी।[२] इसके अतिरिक्त उन्होंने पीतवर्ण लोहे के पाँच नामों में एक नाम ब्राह्मी भी लिखा।[३] भागुरि ने भी ब्राह्मी को 'मातरः' कह कर सम्बोधित किया है। उन्होंने लिखा है, "ब्राह्माद्या मातरः स्मृताः।" हर्षकीर्ति ने अपनी शारदीया नाममाला में वाग्देवी, शारदा, भारती गीः और सरस्वती के साथ ही ब्राह्मी को भी रखा है। उन्होंने उसे हंसयाना ब्रह्म-पुत्री कहा है —

"वाग्देवी शारदा ब्राह्मी भारती गीः सरस्वती।
हंसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु वः॥"[४]

कुछ लोग अपनी पुत्रियों का नाम ब्राह्मी रखते थे। वाराणसी के महाराजा विश्वसेन की महारानी का नाम ब्राह्मी देवी था। आगे के साहित्य में इन्हीं को वामा-देवी कहा गया। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ इनके पुत्र थे। आचार्य गुणभद्र के उत्तर-पुराण में वामादेवी का उल्लेख है—

"वाराणस्यामभूद्विश्वसेनो काश्यपगोत्रजः।
ब्राह्मयस्य देवी सम्प्राप्ता वसुधारादि पूजना॥[५]

इसी प्रकार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थीं—ब्राह्मी और सुन्दरी। भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में इनका विस्तृत विवेचन किया है। हरिवंश पुराण में भी इनका उल्लेख मिलता है। पुरुदेव चम्पू में ब्राह्मी की उत्पत्ति का कला-पूर्ण वर्णन है —

"ब्राह्मीं तनूजामति सुन्दरांगीं
ब्रह्मनाथ तस्यामुत्पादयत्सः।
कलानिधेः पूर्णकलां मनोज्ञां
प्राच्यां दिशायामिव शुक्लपक्षः।"[६]

ऋषभदेव आदि ब्रह्म कहलाते थे। उन्हें यह ब्रह्मपद, अपने समाधितेज से अष्ट कर्मों को भस्म करने के बाद प्राप्त हुआ था। आचार्य समन्तभद्र ने उन्हें 'वभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः' लिखा है। वे विश्वचक्षुः थे और समग्र विद्याओं के धनी। उनका

---

१. अभिधानचिन्तामणि, २/११५, पृ० ५७.
२. वही, २/१५५, पृ० ६७.
३. वही, ४/११४, पृ० २५८.
४. हर्षकीर्ति, शारदीया नाममाला, १/२.
५. गुणभद्र, उत्तरपुराण, ७३/७५.
६. पुरुदेव चम्पू, ६/३९:४०-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वपु निरञ्जन था—सभी प्रकार के मैल और कलुष से रहित।[१] ब्रह्म होने के कारण ही उनकी बड़ी पुत्री ब्राह्मी कहलाई। ऋषभदेव ने उसे ब्रह्म विद्या सिखाई। वह विदुषी ही नहीं बनी अपितु अपनी साधना से जन-जन के मध्य पूजापद की अधिकारिणी भी हुई। चम्बाघाटी में ब्राह्मी देवी का मंदिर आज भी इसका प्रमाण है। यही कारण है कि आगे की जैन परम्परा में पुत्रियों का नाम ब्राह्मी रख कर धार्मिक भावना ही नहीं, गौरव का भी अनुभव किया जाने लगा। कोषकारों, वैय्याकरणों और साहित्यिकों ने विद्या अर्थ में जितने शब्द चुने, उनमें ब्राह्मी को प्रमुखता मिली।

ब्राह्मी शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ, किन्तु सबसे अधिक लिप्यर्थ में। अशोककालीन अधिकांश शिलालेख ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण हुए। उनके पूर्व के शिलालेखों की भी लिपि ब्राह्मी ही थी। उसकी सार्वभौमिकता और लोकप्रियता देख कर ही प्राचीन ग्रन्थकारों ने स्थान-स्थान पर उसको नमस्कार किया है। भगवती सूत्र का 'णमो बंभीए लिवीए' इसका प्रमाण है।

ब्राह्मी लिपि का नामकरण

इस लिपि के ब्राह्मी नाम पड़ने के सन्दर्भ में कई मत अभिव्यक्त किये गये हैं। उनमें पहला है कि विश्व की अन्य वस्तुओं की भाँति ब्रह्मा या ब्रह्म ही इसके भी निर्माता हैं और इसी आधार पर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा।[२] दूसरा मत चीनी विश्वकोष फ़ा-वान-शु-लिन (६६८ ई.) पर आधृत है। इसके अनुसार ब्राह्मी लिपि के निर्माता कोई ब्रह्मा नाम के आचार्य थे, उनके नाम से ही इसे ब्राह्मी कहा गया।[३] इन दोनों मतों में कोई मौलिक भेद नहीं है। एक में लिपि का उद्भावक ब्रह्मा स्वयं हैं—वह ब्रह्मा जिसे जगत्पिता कहते हैं और दूसरे में एक आचार्य, जिसमें नियंता की क्षमता होती है।

तीसरा मत डॉ० राजबली पाण्डेय ने अभिव्यक्त किया है। उनके अनुसार वेद (ज्ञान) की रक्षा के लिए आर्यों ने इसका आविष्कार किया। वेद का दूसरा नाम ब्रह्म है। इसी आधार पर उसे ब्राह्मी संज्ञा प्राप्त हुई।[४] कुछ विद्वान ब्राह्मण से ब्राह्मी का सम्बन्ध जोड़ते हैं। डा० ब्लूलर का कथन है—"इसमें संदेह

१. आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू स्तोत्र, १/३-४.

२. सेक्रेड बुक्स ऑव ईस्ट-नारद स्मृति, २३.५८ और मनु पर बृहस्पति का वार्तिक, २३.३०४.

३. देखिए चीनी विश्वकोष फा-वान-शुलिन. फ्रेंच विद्वान कुपेरी चीनी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं।

4. **Indian Palaeography by Dr. R. B. Pandey, Page 35.**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं कि ब्राह्मी के प्राचीनतम उपलब्ध रूप विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित हुए।[1]" डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भी इस कथन का समर्थन करते हुए लिखा है, "ब्राह्मी लिपि के स्वरों और व्यञ्जनों की पर्याप्त संख्या एवं उच्चारण, स्थान के अनुसार उसका विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि इसके निर्माण में भाषा शास्त्र तथा व्याकरण में निष्णात ब्राह्मणों का हाथ था।"[2] एक पाँचवां मत और है जो ब्रह्मदेश में उत्पन्न होने के कारण इसे ब्राह्मी मानता है।

ब्रह्म और आचार्य से ब्राह्मीलिपि का उद्भावन एक भावना-मात्र है। जब ब्रह्म समस्त जगत का निर्माता है, तो लिपि का भी होगा ही। यह कोई शोध-खोज की बात नहीं है, एक धर्मनिष्ठ संचेतन है। वेद और ब्राह्मण एक हीं सूत्र है। यह भी तो हो सकता है कि ब्राह्मी के आधार पर वेद को ब्रह्म और मनुष्य जाति के एक वर्ग को ब्राह्मण कहा गया। जहाँ तक ब्रह्म विद्या (आत्मविद्या) का सम्बन्ध है, वह ब्राह्मणों से पूर्व क्षत्रियों में थी। यह ब्रह्मविद्या क्षत्रियों से ब्राह्मणों को प्राप्त हुई, इसे सभी बड़े-वड़े विद्वान मानते हैं।[3] इसी भाँति ब्राह्मण और संस्कृत को घनिष्ठ माना जा सकता है, ब्राह्मण और प्राकृत को नहीं। ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम उद्धरण प्राकृत में मिलते हैं, संस्कृत में नहीं। संस्कृत से भी पूर्व प्राकृत मौजूद थी। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के प्रधान सम्पादकत्त्व में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य कोष' में लिखा है, "प्राकृत भाषा कोई एकाएक प्रयोग में नहीं आ गई। अपने नैसर्गिक रूप में वह वैदिक काल से पूर्व भी

---

१. George Buhler, Indische Palaeography, हिन्दी अनुवाद–भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ३४.

२. डॉ० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास, पृष्ठ ५८०, मिलाइए–भारत में लिपि विकास, हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, गुणानन्द जुयाल, पृ० १८४.

३. यथेयं न प्राक्त्वत्तः पुराविद्या ब्राह्मणान् गच्छति।
तस्मात्तु सर्वेपु लोकेपु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्॥ छान्दोग्य० ५/३/७.

"तत्रास्ति वक्तव्यम्—यथा येन प्रकारेण इयं विद्या प्राक्त्वत्तो ब्राह्मणान् न गच्छति न गतवती, न च ब्राह्मणा अनया विद्यया अनुशासितवन्त तथा एतत् प्रसिद्धं लोके यतः। तस्माद् पुरा पूर्वं सर्वेपु लोकेपु क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेव अनया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूत् बभूव। क्षत्रियपरम्परयैवेयं विद्या एतावन्तं कालमागता। तथाप्येतां अहं तुभ्यं वक्ष्यामि। त्वत्सम्प्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान् गमिष्यति। अतो मया यदुक्तं तत्क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा तस्मै हि उवाच विद्यां राजा।"

छान्दोग्य० ५/३/७ का शांकरभाष्य.

और

"अथेदं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन् ब्राह्मण उवासताम्।"

बृहदारण्यक ६/२/८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यमान थी। वैदिक भाषा को स्वयं उस काल में प्रचलित प्राकृत बोलियों का साहित्यिक रूप माना जा सकता है।"[1] इस संदर्भ में प्राकृत महाकाव्य गउडवहो का कथन उल्लेखनीय है—

"सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायावो
एंति समुद्धं चिय णेंति सायरोओच्चिय चलाइं ।।"[2]

इसका अर्थ है कि जिस प्रकार जल समुद्र में प्रवेश करता है और वाष्प बनकर पुनः समुद्र से बाहर जाता है, उसी प्रकार प्राकृत से सब भाषाओं का उद्‌गम होता है और उसी में सब भाषाएँ पुनः समाहित हो जाती हैं। प्राकृत का यह व्यापक अर्थ है। भाषा का यही स्वच्छन्द रूप स्थानगत और काल गत विभिन्नताओं के कारण ५०० ई. पूर्व से १००० ई. तक प्राकृत और अप-भ्रंश भाषाओं के रूप में विकसित हुआ। उस काल में प्राकृत लोकप्रिय भाषा बन गई थी, जैसा कि राजशेखर ने स्पष्ट किया है—"प्राकृत भाषा स्त्री के समान सुकुमार और संस्कृत भाषा पुरुष के समान कठोर है। वैय्याकरणों ने सम्भवतः संकुचित अर्थ में साहित्यिक प्राकृत का मूल आधार संस्कृत को माना है। यद्यपि यहाँ संस्कृत का आशय प्राचीन आर्यभाषा के स्वच्छन्द रूप में विकसित वैदिक संस्कृत से लेना युक्तिसंगत होगा, क्योंकि संस्कृत तो स्वयं ही लोकभाषा का संस्कार किया हुआ रूप था।"[3]

तो ब्राह्मी लिपि सम्वन्धित थी इस लोकभाषा प्राकृत से और ब्राह्मण सम्बन्धित था संस्कृत से, अतः ब्राह्मण के आधार पर ब्राह्मी नाम पड़ा, असंगत है। संयुक्ताक्षर संस्कृत में ही नहीं, प्राकृत में भी थे। भाषा और व्याकरण की जानकारी ब्राह्मण को ही नहीं, श्रमण को भी थी। यहाँ तक कि आर्य वे ही कहलाते थे जो प्राकृत बोलते और लिपि के रूप में ब्राह्मी का व्यवहार करते थे। एक जैन ग्रन्थ पण्णवणासुत्त में लिखा है—

"से किं तं भासारिया। भासारिया जे णं अद्धमागहाये भासाए भासंति।
जत्थ वि य णं बंभी लिवि पवत्तइ।"[4]

अर्थ—भासारिया (भाषा के अनुसार आर्य) कौन कहे जाते हैं? भाषा के अनुसार आर्य लोग वे हैं, जो अर्धमागधी भाषा में वार्तालाप करते हैं, लिखते-पढ़ते

---

१. 'हिन्दी साहित्यकोष', प्रधान सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४६२.

२. वाक्पतिराज, गउडबहो, श्लोक ९३ वाँ, डा. अग्रवाल के 'प्राकृत विमर्श' में उद्‌धृत, पृष्ठ ४.

३. "परुसा सक्कअबंधा पाउअप्रबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणँ जेत्तिअ मिहंतरं तेत्तिअ मिमाणं।।"
कर्पूरमञ्जरी, १.८.

४. पण्णवणासुत्त—५९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं और जिनमें ब्राह्मी लिपि का व्यवहार होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने कल्पसूत्र में लिखा है—पोराणं अद्धमागहभासा निययं हवइ सुत्तं,[१] अर्थात् जैन धर्म में प्राचीन सूत्र अर्द्धमागधी भाषा में निबद्ध होते थे। यह निबन्धन ब्राह्मी लिपि में होता था। यायावर जैन साधु देश-देश में विहार करते थे, वहाँ की प्रचलित जनभाषा में बोलते और वहाँ की भाषा में ही ग्रन्थ-निर्माण करते थे। वह जनभाषा प्राकृत थी। प्राकृत एक रूप होते हुए भी देश-भेद से भिन्न रूप भी थी। नमि साधु ने काव्यालंकार-टीका में लिखा है—"मेघ निर्मुक्तं जलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादित विशेषंसत् संस्कृताद्युत्तरविभेदान् आप्नोति।"[२] ऐसा ही एक वाक्य 'भारतीय विद्यानिबन्ध संग्रह' में, 'सरस्वती कंठाभरण' से संकलित है—"सा पुनर्जलपरम्परेवैक रूपापि तत्तद्देशादि विशेषात् संस्कारकरणाच्च भेदान्तरान् आप्नोति।"[३] इसका अर्थ है कि मेघों से छोड़ी जाने वाली जल परम्परा एक रूप होते हुए भी देश विशेष से भिन्नत्व को प्राप्त होती है, उनमें एक संस्कृत भी है। उनके अनुसार, "प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनुसंस्कृतादीनि पाणिन्याव्याकरणोदित शब्द-लक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।"[४] अर्थात् आदि में संस्कृत थी, फिर संस्कृतादिक आईं, पाणिनीय व्याकरण के अनुसार प्रचलित भाषा का संस्कार करने से जो भाषा बनी, वह संस्कृत कहलाई। संस्कार के बाद संयुक्ताक्षर की संख्या बढ़ गई, जो पहले कम थी।

जहाँ तक ब्रह्मदेश के आधार पर ब्राह्मी लिपि के नामकरण का सम्बन्ध है, वह केवल कल्पना-जन्य और आनुमानिक है। वह देश कहाँ था? उसकी संस्कृति एवं सभ्यता कैसी थी? उसकी भाषा कौन-सी थी? आदि प्रश्न अधूरे हैं। कोई प्रामाणिक हल नहीं है। केवल ब्रह्म नाम होने मात्र से, उसे ब्राह्मी का मूलाधार मान लिया जाये, उचित नहीं है। ब्राह्मी के नामकरण सम्बन्धी ठोस आधार जैन ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। आज तक उन पर भाषा विज्ञान-वेत्ताओं की दृष्टि नहीं गई है। उनके कतिपय उद्धरण मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहूँगा।

हिन्दी विश्वकोष के प्रथम भाग में श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने लिखा था, "ऋषभ-देव ने ही सम्भवतः लिपिविद्या के लिए कौशल का उद्भावन किया। ऋषभ-देव ने ही सम्भवतः ब्रह्म विद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।"[५] यद्यपि श्री वसु महोदय अवश्य ही जैन ग्रंथों के अध्ययन

---

१. कल्पसूत्र–४/२८७, मिलाइए–अववाइअसुत्त, पारा–५६.

२. नमिसाधुकृत काव्यालंकारटीका, २/१२.

३. देखिए सरस्वतीकंठाभरण, आजडकृत व्याख्या, भारतीयविद्यानिबंधसंग्रह, पृष्ठ २३२.

४. नमिसाधुकृत काव्यालंकार टीका, २/१२.

५. नगेन्द्रनाथवसु सम्पादित, हिन्दी विश्वकोश, प्रथम भाग, पृष्ठ ६४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से इस परिणाम पर पहुँचे होंगे, किन्तु उसकी सम्पुष्टि उन्होंने नहीं की। ऋषभदेव जैनों के आदि तीर्थंकर थे। उनका उल्लेख ऋग्वेद से लेकर श्रीमद् भागवत् तक अविच्छिन्न रूप से अजैन ग्रंथों में भी मिलता है। मैंने उनका विस्तृत विवेचन अपने ग्रन्थ 'भरत और भारत' में किया है। यह सत्य है कि उनका जब जन्म हुआ, भोगभूमि समाप्त हो चुकी थी—कल्पवृक्षों का युग बीत गया था। वह कर्मभूमि का प्रारम्भ था। धरा और धरावासियों की नई समस्याएँ थीं, नये हल चाहिए थे। ऋषभदेव ने निष्ठा, प्रतिभा और श्रम-पूर्वक उनका समाधान किया। उन्होंने असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षड्विध जीवनोपायों का उपदेश देकर प्रजा की समृद्धि का मार्ग दिखाया। वे प्रजापति कहलाये। दूसरी ओर उन्होंने आध्यात्मिक साधनों को भी पूर्णता दी।[१] अपने कर्मफल को अपने समाधितेज से भस्म कर दिया।[२] कर्म-मल के हट जाने से वे विशुद्ध आत्मब्रह्मरूप हो गये। उन्होंने एक ओर लोक को सफल बनाने का मार्ग प्रशस्त किया, तो दूसरी ओर आत्म-साधना का भी रास्ता दिखाया और दोनों की समन्वयात्मक पूर्णता को जीवन का लक्ष्य बनाया।[३]

ऋषभदेव ने जहाँ एक ओर कृषि करना सिखाया, व्यापार का ढंग बताया, नाना शिल्पों में दीक्षित किया और शस्त्र-विद्या का ज्ञान कराया, वहाँ लिपि और अंक की प्रारम्भिक शिक्षा भी उन्होंने दी। ऋषभदेव की प्रथम महाराज्ञी नन्दा से ज्येष्ठ पुत्र भरत और पुत्री ब्राह्मी का युगल रूप में जन्म हुआ था।[४] इसी भाँति उनकी दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुबली और सुन्दरी युगल रूप में जन्मे थे।[५] इनके अतिरिक्त सुनन्दा से उनके छयानवे पुत्र और हुए।[६] सभी चरम शरीरी थे। भगवान् ने अतिशय बुद्धि से सम्पन्न अपने समस्त पुत्रों के साथ-साथ दोनों पुत्रियों-ब्राह्मी और सुन्दरी को भी अक्षर, चित्र, संगीत और गणित का ज्ञान कराया था। जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' में लिखा है—

"अक्षरालेख्यगन्धर्व गणितादिकलार्णवम्।
सुमेधानैः कुमारीभ्यामवगाहयति स्म॥"[७]

एक दिन राज-सभा में ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियाँ अपने पिता आदिनाथ के समीप आईं। उन पुत्रियों के वक्षस्थल पर रत्नमाला पड़ी हुई थी, कमर

१. स्वयम्भू स्तोत्र—१/३.
२. वही—१/४.
३. भरत और भारत, पृष्ठ ३१.
४. जिनसेन, हरिवंशपुराण, ९/२१.
५. वही, ९/२२.
६. वही, ९/२३.
७. वही, ९/२४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर कर्धनी का मृदु शब्द हो रहा था, उनके नेत्र खंजनपक्षी के समान थे और उनके अंगों से स्वर्णरेणु के समान कांति विकीर्ण होती थी।[1] उन दोनों के विनय-शील आदि गुण को देखकर जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेव ने विचार किया कि यह समय इनके विद्या ग्रहण का है, अतः उन्होंने दोनों को सिद्धमातृका सिखाने के साथ-साथ गणित, कोश, पद-विद्या, छन्द-अलंकार शास्त्र पढ़ाये। पुरुदेव चम्पू में लिखा है—

"तदनुतयोर्विनयशीलादिकं विलोक्य जगद्गुरुर्विद्या-स्वीकरणकालोऽयं इति मत्वा ब्राह्मी-सुन्दरीभ्यां सिद्धमातृकोपदेश पुरःसरं गणितं स्वयंभुवाधानानि पदविद्याछन्दो विचित्यलंकार शास्त्राणि च।"[2]

इस सन्दर्भ में भगवज्जिनसेनाचार्य का महापुराण दृष्टव्य है। उसके सोलहवें पर्व में ब्राह्मी-सुन्दरी और उनके विद्यारम्भ का विशद विवेचन है। वे दोनों सौंदर्य और शील की तो मानों मूर्त्तिमती प्रतिमाएँ थीं। उन्हें देखकर सोचना होता था कि वे नागकन्याएँ हैं अथवा दिक्कन्याएँ, वे सौभाग्य देवियाँ हैं अथवा लक्ष्मी सरस्वती की अधिष्ठातृ देवियाँ अथवा उनका अवतार हीं। उनकी आकृति नाना कल्याणोद्भवा है। दर्शक को विस्मयकारिणी आनन्दानुभूति होती है।[3] एक दिन दोनों ने भगवान् के समीप जाकर विनय-पूर्वक प्रणाम किया। दोनों को प्रणत और नतमस्तक देख प्रभु ने प्रीति से उन्हें अंक में बिठाया और उनका सिर सूँघते हुए बोले—तुम दोनों की यह अवस्था और अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित किया जाय तो सफल हो जायेगा। अतः हे पुत्रियो! तुम विद्या-ग्रहण करने में प्रयत्न करो, यही काल है—

"प्रणते ते समुत्थाप्य दूरान्नमितमस्तके।
प्रीत्या स्वमङ्कमारोप्य स्पृष्ट्वाघ्राय च मस्तके ॥९४॥
इदं वपुर्वयश्चेदम् इदं शीलमनीदृशम्।
विद्यया चेद्विभूषयेत् सफलं जन्म युवामिदम् ॥९७॥
तद्विद्या ग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुत युवाम्।
तत्संग्रहणकालोऽयं युवयोर्वर्ततेऽधुना ॥१०२॥"[4]

---

१. "उद्भिन्नस्तनकुड्मले मृदुरणत्कांचीकलापांचिते।
सिंजन्मंजुलनूपुरेद्धचरणन्यासे चकोरेक्षणे।
कांतिकांचनरेणुराजिसदृशीमंगैः किरंत्यौ पुरो।
ब्राह्मी संसदि सुन्दरी च त इमे प्राप्ते समीपं गुरोः॥"
अर्हद्दास, पुरुदेवचम्पू, ७/१.

२. वही, ७, पृ० १४२.

३. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, भाग १, १६/९०-९३

४. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/९४-१०२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा कहकर उन्होंने पुनः पुनः आशीर्वचन के साथ, स्वर्णपट्ट पर, अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता का पूजन कर स्थापित किया, फिर दोनों हाथों से अ, आ, आदि वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि लिखने का उपदेश दिया और अनुक्रम से इकाई, दहाई आदि अंकों के द्वारा उन्हें संख्या का ज्ञान भी कराया।

"इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ।।१०३।।
विभुःकरद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम्।
उपादिशल्लिपिं संख्या संस्थानं चाङ्कैरनुक्रमात् ।।१०४।।"[१]

तीर्थंकर देव ने दोनों हाथों में-से दाहिने हाथ से लिपि ज्ञान और बायें हाथ से अंकज्ञान करवाया। यही कारण है कि लिपि बायें से दायीं ओर और अंक दायें से बायीं ओर चलते हैं। भगवान् के मुख से जो अक्षरावली निकली, उसमें 'सिद्धं नमः' मंगलाचरण है और व्यञ्जन पदों में अ, आ, इ, ई आदि मात्राएँ मिली हुई हैं। उसमें अकार से लेकर हकार पर्यन्त शुद्ध मुक्तावली के समान वर्ण हैं। इन वर्णों के दो भेद हैं—स्वर और व्यञ्जन। ये अ से ह पर्यन्त ६४ अयोगवाह हैं। इसमें अनेक वीजाक्षरों से व्याप्त संयुक्ताक्षर हैं। इस अक्षर विद्या को वुद्धिमती ब्राह्मी ने और इकाई-दहाई रूक अंक विद्या को सुन्दरी ने धारण किया। वाङमय के विना, न तो कोई शास्त्र है, न कोई कला है, इसीलिए तीर्थंकर ने सब से पहले उन पुत्रियों के लिए वाङमय का उपदेश दिया।

"ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम्।
'सिद्धं नम' इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम् ।।१०५।।
अकारादिहकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव।
स्वर व्यञ्जन भेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम् ।।१०६।।
अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासु सन्तताम्।
संयोगाक्षरसम्भूतिं नैकबीजाक्षरैश्चिताम् ।।१०७।।
समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यति सुन्दरी।
सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत् ।।१०८।।
न बिना वाङगमयात किञ्चिदस्ति शास्त्रंकलापि वा।
ततोवाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ।।१०९।।"[२]

ब्राह्मी और सुन्दरी को समस्त विद्याएँ पदज्ञानरूपी दीपिका से प्रकाशित हुई और अपने आप ही स्वाभाविक सहज रूप से परिपक्व अवस्था को प्राप्त

१. वही, १६/१०३–१०४.
२. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, भाग १, १६/१०५-९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो गईं। इस प्रकार गुरु अथवा पिता से समस्त विद्या-प्राप्त दोनों पुत्रियाँ साक्षात् सरस्वती का अवतार-सा प्रतिभासित होने लगीं।[१]

भगवती सूत्र एक प्राचीनग्रंथ है। उसमें अनेक प्राचीन उद्धरण हैं। विद्वानों ने उसकी प्राचीनता असंदिग्ध रूप से स्वीकार की है। उसमें तीर्थंकर ऋषभ-देव के सन्दर्भ भी संकलित हैं। एक स्थान पर लिखा है कि ऋषभदेव ने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को लिपिज्ञान और बाँये हाथ से सुन्दरी को अंक ज्ञान कराया—

"लेणं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिण करेण।
गणियं संखाणं सुरन्दरीए वामेण उवइटठं॥"[२]

इसकी संस्कृत व्याख्या अभिधान राजेन्द्र कोश के 'उसभ' प्रकरण में इस प्रकार दी हुई है—

"लेखनं लेखो नाम सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्त्वाल्लिपिविधानं तच्च जिनेन भगवता वृषभस्वामिना ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमतएव तदादित आरभ्य वाच्यते। गणितं नौमकद्वित्र्यादि संख्यानं तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणो-पदिष्टमत एव तत्पर्यन्तादारभ्य गण्यते।"[३]

इसी प्रकरण में एक अन्यत्र स्थान पर लिखा है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से 'ब्राह्मी' को लिपिज्ञान कराया, तो उसी के नाम पर लिपि को भी 'ब्राह्मी' कहने लगे और 'ब्राह्मी-लिपि' नाम प्रचलित हो गया। वह उल्लेख है, "लेखो लिपिविधानं तद्दक्षिण हस्तेन जिनेन ब्राह्म्या दर्शितम् इति। तस्माद् ब्राह्मी नाम्नी सा लिपि:।"[४] इसी प्रकार भावसेन त्रैविद्य ने 'कातन्त्ररूपमाला' में लिखा है—"तेन ब्राह्म्यै कुमार्यै च कथितं पाठहेतवे। कालापकं तत्कौमारं नाम्ना शब्दा-नुशासनम्।"[५] यहाँ तेन से तात्पर्य श्री ऋषभदेव से है, जैसा कि उन्होंने अन्त में लिखा है—"तस्मात् श्री ऋषभादिष्टमित्येव प्रतिपद्यताम्।"[६] अभिधान राजेन्द्रकोश के पाँचवें भाग में, जहाँ पुस्तकाक्षरविन्यासरूप लिपि और उसके १८ भेदों की बात लिखी है, वहाँ ही नाभेयजिन अर्थात् नाभि के पुत्र ऋषभ-जिन की स्वसुता ब्राह्मी के नाम पर इस लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पड़ा, ऐसा भी लिखा है। वह लेख है—

---

१. वही, १६/११६, ११७.
२. देखिए भगवती सूत्र, उद्धृत—अभिधानरजेन्द्रकोष, भाग २, पृष्ठ ११२६.
३. अभिधानराजेन्द्रकोश, 'उसभ' प्रकरण, भाग २, पृष्ठ ११२६.
४. देखिए वही.
५. श्री भावसेन त्रैविद्य, कातन्त्ररूपमाला, १/४.
६. वही, ११७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"लिपिः पुस्तकाऽऽदौ अक्षरविन्यासः सा चाष्टादशप्रकारापि श्रीमन्नाभेय-जिनेन स्वसुताया ब्राह्मी नामिकाया दर्शिता, ततो ब्राह्मी नाम इत्यभिधीयते ।"[1]

'आवश्यक नियुक्ति भाष्य' में दाहिने हाथ से ब्राह्मी को लिपिज्ञान कराये जाने की बात का उल्लेख प्राप्त होता है। उसमें लिखा है–"लहें लिविवीहाणं जिणेण बंभीइ दाहिण करेणं।"[2] आवश्यक चूर्णि के पृष्ठ १५६ पर लिखा है कि इसी ब्राह्मी पुत्री के नाम पर लिपि का नाम भी ब्राह्मी पड़ा। ऐसी ही बात समवायांगसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य में भी कही गई है। वहाँ तो ब्राह्मी लिपि के भेदों का विवेचन भी प्राप्त होता है—ऐसा विवेचन जो बौद्धों के ललित विस्तर के अतिरिक्त, अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' की रचना की थी। यह ग्रंथ डा. पी. एल. वैद्य के सम्पादन में, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई से १९३७-४१ ई. में निकल चुका है। इसे 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु' भी कहते हैं। इसमें ६३ शलाका पुरुषों के चरित्र निबद्ध हैं। अतः इसमें तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र-पौत्रादिकों का भी विवेचन है। पं. नाथूराम प्रेमी ने पुष्पदन्त का साहित्यिक काल शक संवत् ८८१ से ८९४ तक माना है। उन्होंने लिखा है—"शक संवत् ८८१ में पुष्पदन्त मेलपाटी में भरत महामात्य से मिले और उनके अतिथि हुए। इसी साल उन्होंने महापुराण शुरू करके उसे शक संवत् ८८७ में समाप्त किया।"[3] पुष्पदन्त विदर्भान्तर्गत रोहड़-खेड़ गाँव के रहने वाले थे। आज भी यह गाँव धामण गाँव से खामगांव के मार्ग में आठवें मील पर अवस्थित है।[4]

इस ग्रंथ में भी ब्राह्मी वाला उल्लेख है। भगवान् ऋषभदेव ने दाहिने और बायें हाथ से ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों कन्याओं को अक्षर और गणित की शिक्षा दी। वहाँ लिखा मिलता है—

"भावें णमसिद्धं पभणेप्पणु दाहिणवाभकरेंहि लिहेप्पिणु।
दोंहि मि णिम्मलकंचन वण्णहं अक्खरगणियइं कण्णहं ॥"[5]

अर्थ—भावपूर्वक सिद्ध को नमस्कार कर, भगवान् ऋषभदेव ने दोनों ही निर्मल कंचनवर्णी कन्याओं को, दायें और बायें हाथ से लिखकर अक्षर और गणित बताया।

---

१. अभिधानराजेन्द्रकोश, पंचम् भाग, पृष्ठ १२८४.
२. आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य, उद्धृत—अभि. राजेन्द्रकोश, भाग ५, पृ. १२८४.
३. पं० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ २५०.
४. वही, पृष्ठ २२७-२२८.
५. पुप्फयंतु, महापुराण, ५/१८—प्रथम दो पंक्तियां.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसो संदर्भ को आगे बढ़ाते हुए महाकवि पुष्पदन्त ने लिखा है—

"अत्थें सद्देण वि सोहिल्लउ गद्दु अगद्दु दुविहु कव्वुल्लउ ।
सक्कउ पायउ पुणु अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सपसंसउ ।।
सत्थक लासिउ सग्गणिबद्धउ पाउड अक्खाइय कहरिद्धउ ।
अणिबद्धउ गाहाइउ अक्खिउ गेयवज्जलक्खणुवि णिरिक्खउ ।।
बंभे सइं वक्खाणिउं जं जिह कुंअरी जुयलें बुज्झिउ तं तिह ।"[1]

अर्थ—अर्थ और शब्द से सुशोभित गद्य और अगद्य (पद्य) दो प्रकार का काव्य आलाप और संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की छन्दरचना का प्रशंसा-योग्य उपाय बताया । उन्होंने शास्त्र कलाश्रित सर्ग-निबन्धन, कथाप्राभृत की रचना, अनिबद्ध गाथा और गीत-वाद्य के लक्षण भी कहे । इस प्रकार स्वयं ब्रह्म (ऋषभ-देव) द्वारा जिसका जैसा व्याख्यान किया गया, युगल कुमारियों ने उसको वैसा ही समझ लिया ।

पुष्पदन्त ने जो गद्य-अगद्य काव्य, विविध भाषाओं की छन्द रचना, सर्ग-निबन्धन, कथा प्राभृत, गाथा और गीतवाद्य के सम्बन्ध में कहा, वह सब लिपि के सन्दर्भ के अनुकूल ही था । भगवान् ने उसी प्रवाह में यह सब कुछ अपनी पुत्रियों को सिखाया और पुत्रियाँ इतनी प्रतिभावान् थीं कि भगवान् ने जो कुछ जैसा बताया, उन्होंने वैसा ही ग्रहण कर लिया—आत्मसात् किया, स्मरण रक्खा और साधना से और अधिक विस्फुरित किया । इस पर डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन का निष्कर्ष दृष्टव्य है, "ब्राह्मी और सुन्दरी (ऋषभ की पुत्रियों) को काव्य की शिक्षा विशेष रूप से दी गई—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश, छन्द, शास्त्र-निबद्ध कलाएँ, सर्गबद्ध गाथाएँ और गीत-वाद्य । इससे इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि राजकुमारियों को उस युग में काव्य की शिक्षा का विशेष महत्त्व था । संस्कृत काव्य के अतिरिक्त लोकभाषा का साहित्य भी उन्हें पढ़ाया जाता था । इस काव्य के कई भेद थे । 'गणेशायनमः' की जगह 'ओं नमः सिद्धानाम्' शिक्षा के प्रारम्भ में कहा जाता था ।"[2]

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'त्रेसठशलाका पुरुष चरित्र' में भगवान् ऋषभदेव के द्वारा ब्राह्मी और सुन्दरी को अक्षर और गणित की शिक्षा दिये जाने की बात लिखी है । आचार्य हेमचन्द्र का जन्म वि. सं. ११४५ और दिवाव-सान वि. सं. १२२९ माना जाता है ।[3] गुजरात के महाराज सिद्धराज और कुमारपाल के समय में वे जीवित थे । दोनों के गुरु थे और अपने युग के

१. वही, ५/१८—मध्यवर्ती पाँच पंक्तियाँ.
२. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, अपभ्रंशभाषा और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६५, पृ० २७७.
३. डॉ० हरवंश कोछड़, अपभ्रंशसाहित्य, पृष्ठ ३२१–२२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्यधिक प्रतिष्ठित और प्रभावशाली साधु थे। उनका सिद्धहेमव्याकरण आज भी विद्वानों के आकर्षण का विषय है। कोषग्रंथों में 'अभिधानचिन्तामणि' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने ही 'त्रेसठशलाका पुरुष चरित्र' का निर्माण किया था। उनका कथन है—

> "अष्टादशलिपि ब्राह्म्या अपसव्येन पाणिना ।
> दर्शयामास सव्येन सुन्दर्यां गणितं पुनः ।।"[१]

इसका अर्थ है कि भगवान् ने ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान दायें (अपसव्य) हाथ से कराया और सुन्दरी को बायें हाथ से गणित (अंक ज्ञान) की शिक्षा दी।

आचार्य दामनन्दि के 'पुराणसार संग्रह' में आदिनाथ चरित भी संगृहीत है और उसमें तीर्थंकर ऋषभदेव, उनके पुत्र-पुत्रियों और उनकी शिक्षा-दीक्षा का विवेचन है। आचार्य दामनन्दि के समय, स्थान और गुरु-परम्परा का कोई परिचय नहीं मिलता। 'पुराणसार संग्रह' के सम्पादक डॉ. गुलाबचन्द चौधरी ने अपनी भूमिका में लिखा है, "पुराणसार संग्रह' के अध्ययन से भी बहुत थोड़ी सामग्री उनके परिचय के लिए मिली है। उन्होंने अपने पुरुदेव चरित (आदि-नाथ चरित) के पंचम् सर्ग के ५० वें श्लोक में स्वयं को 'प्रवर विनयनन्दि-सूरिशिष्यः' कहा है, अर्थात् वे आचार्य विनयनन्दि के शिष्य थे। आचार्य दाम-नन्दि के गुरु विनयनन्दि के सम्बन्ध में भी हमें कुछ ज्ञात नहीं और न उनके नाम का उपलब्ध सूचियों से कुछ पता लगता है।"[२] एक दूसरे स्थान पर डॉ. गुलाबचन्द ने आचार्य दामनन्दि को देवसंघ का आचार्य माना है। उनका आधार है वर्द्धमान चरित की प्रथम सर्गान्त प्रशस्ति। उसमें लिखा है— "वर्ध-मान चरिते—देवसंघस्य कृतौ प्रथम सर्गः।"[३] देवसंघ दक्षिणभारत के दिगम्बर मूलसंघ के चार भेदों में से एक है। इससे स्पष्ट है कि वे दाक्षिणात्य थे। दक्षिण में ही कहीं के रहने वाले थे। चतुर्विंशति पुराण इनका दूसरा ग्रंथ है, इसमें चौवीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त महापुरुषों का भी विवेचन है। राइस महोदय ने भूलवशात् ही पुराण सार संग्रह और चतुर्विंशति पुराण को एक मान लिया था। इस दूसरे ग्रंथ से भी आचार्य दामनन्दि के जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

आचार्य दामनन्दि ने 'आदिनाथ चरित' के तीसरे सर्ग में सम्राट ऋषभदेव के सौ पुत्रों और दो पुत्रियों के उत्पन्न होने की बात लिखी है। साथ ही यह

१. हेमचन्द्राचार्य, त्रेसठशलाकापुरुषचरित, १/२/९६३.

२. आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी-सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रस्तावना, पृष्ठ ८.

३. देखिए वही, पृष्ठ ९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी लिखा है कि भगवान् ने दायें हाथ से ब्राह्मी को अक्षरज्ञान और बायें हाथ से ब्राह्मी को अंकज्ञान कराया। उनका कथन है—

"पुत्राणां शतमेकोनं सुतां चैकां यशस्वतीम्।
सुषुवेबाहुबलिनं सुनन्दा सुन्दरीमपि ॥१३॥
अक्षराणि बिभु ब्राह्म्या अकारादीन्यवोचत्।
वामहस्तेन सुन्दर्यां गणितं चाऽप्यदर्शयत् ॥१४॥"[1]

इसका अर्थ है—ऋषभदेव की पत्नी यशस्वती ने एकोनशत (निन्यानवे) पुत्रों को और एक पुत्री (ब्राह्मी) को जन्म दिया तथा सुनन्दा (दूसरी पत्नी) से बाहुबलि और सुन्दरी उत्पन्न हुए। भगवान् ने ब्राह्मी को अकारादि अक्षर (दायें हाथ से) सिखाये और सुन्दरी को बायें हाथ से गणित विद्या (अंक ज्ञान) का दर्शन कराया।

डॉ. नेमिचन्द्र जैन ने 'संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान' में एक शत्रुञ्जय काव्य का उल्लेख किया है। उसमें लिखा है कि ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठपुत्र भरत को ७२ कलाएँ, बाहुबलि को गज, अश्व, स्त्री और पुरुष के लक्षण तथा पुत्री सुन्दरी को गणित का ज्ञान कराया। साथ ही, उन्होंने अपनी दूसरी पुत्री ब्राह्मी को अपसव्य (दायें) हाथ से अठारह लिपियों की शिक्षा दी। लेखक ने शत्रुञ्जय काव्य में लिखा है—

अध्यजीगपदीशोऽपि, भरतं ज्येष्ठनन्दनम्।
द्वासप्ततिकलाखण्डं, सोऽपिबन्धून्निजान् परान् ॥
लक्षणानि गजाश्वस्त्रीपुंसामीशस्त्वपाठयत्।
सुतं च बाहुबलिनं सुन्दरीं गणितं तथा ॥
अष्टादशलिपीर्नाथो दर्शयामास पाणिना।
अपसव्येन स ब्राह्म्या ज्योतिरूपा जगद्धिता ॥[2]

अर्थ—भगवान् ने अपने ज्येष्ठनन्दन भरत को बहत्तर कलाएँ सिखाईं और फिर उसने अपने अन्य भाइयों को। भगवान् ने अपने ही दूसरे पुत्र बाहुबलि को गज, अश्व, स्त्री और पुरुष के लक्षण तथा सुन्दरी को गणित पढ़ाया। उन्होंने संसार का हित करने वाली और ज्योति रूपा अठारह लिपियाँ ब्राह्मी को दाहिने हाथ से सिखाईं।

---

१. आदिनाथ चरित, तीसरा सर्ग, १३, १४, पुराण सारसंग्रह में संकलित, पृष्ठ ३६.

२. शत्रुञ्जय काव्य, ३/१२६-१३१, 'संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान', पृष्ठ ५६१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भरत को ७२ कलाओं की शिक्षा भगवान् ऋषभदेव ने दी और ब्राह्मी को लिपि ज्ञान कराये जाने की वात 'पद्मानन्द काव्य' में भी देखने को मिलती है। वहाँ लेख की परिभाषा भी दी गई है। उसमें लिखा है कि सुन्दर और स्पष्ट लिपि लिखने को लेख कहते हैं। उसका उद्देश्य भाव और विचारों को अभिव्यञ्जित करना है।[1]

अनगारधर्मामृत टीका के रचयिता पं. आशाधर थे। पीछे के ग्रन्थकर्त्ताओं ने उन्हें सूरि और आचार्य-कल्प माना है। वे गृहस्थ थे, मुनि नहीं, किन्तु उनका पाण्डित्य और विद्वत्ता सर्वजन-विश्रुत थी। उन्होंने नालछा के नेमि-चैत्यालय में बैठकर, ३५ वर्ष तक एकनिष्ठ साहित्य-साधना की। उन्होंने उस काल की सरस्वती रूपा धारानगरी के शारदा-सदन में व्याकरण और न्याय शास्त्र का अध्ययन किया था।[2] उनके सम्वन्ध में पं. नाथूराम प्रेमी का कथन है, "उनकी प्रतिभा और पांडित्य केवल जैन शास्त्रों तक ही सीमित नहीं थी, इतर शास्त्रों में भी उनकी गति थी। इसीलिए उनकी रचनाओं में यथास्थान सभी शास्त्रों के उद्धरण दिखाई पड़ते हैं और इसी कारण अष्टांगहृदय, काव्यालंकार और अमरकोष जैसे ग्रंथों पर टीका लिखने के लिए वे प्रवृत्त हुए।"[3] उन्होंने लगभग वीस ग्रन्थों की रचना की। उन्हीं में एक 'अनगार धर्मामृत टीका' भी है। उन्होंने जो कुछ लिखा, उसका सार है कि ब्राह्मी एक देवी है—सरस्वती का अवतार। उनकी कृपा से मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ की शिक्षा प्राप्त हो सकती है। उत्तम भावनाओं की शिक्षा ग्रहण करनी है, तो ब्राह्मी की भक्ति करो। पं. आशाधर ने लिखा है—

"मा भूत्कोपीह दुखी भजतु जगद्सद्धर्मशर्मेतिमैत्रीं,
ज्यायोहृत्तेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेष्विवेति प्रमोदम्।
दुखाद्रक्षेयमार्त्तान् कथमिति करुणां ब्राह्मि मामेहि शिक्षा,
काऽद्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परमपदाभ्युद्यता भावयन्तु॥"[4]

अर्थ—प्राणिमात्र में दुखों के उत्पन्न न होने की आकांक्षा, मैत्री, गुणवानों में हर्षरूप मनोराग, प्रमोद, दुखियों में उदार बुद्धि कारुण्य और अनुकूल-प्रतिकूल व्यक्तियों में समता माध्यस्थ भावना है। हे ब्राह्मी! मुझे आप ऐसी ही शिक्षा दें कि मैं इन भावनाओं में तत्पर रहूँ।

---

१. पद्मानन्द काव्य, बड़ौदा, सन् १९३२ ई., १०/७६.

२. पं. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३४३.

३. वही, पृष्ठ ३४२.

४. पं० आशाधर, अनगारधर्मामृत, ४/१५१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रह्मचारी मनसुखसागर ने अपने 'भाषा आदिपुराण' में भरत की बहिन ब्राह्मी का उल्लेख किया है और लिखा है कि तीर्थंकर वृषभदेव ने अक्षर लिपि का ज्ञान कराया। ब्राह्मी के कारण ही वह अक्षरलिपि ब्राह्मी लिपि कहलाई। उनका कथन है—

"भरतादिक ब्राह्मी सुता, सब जन को सुखदाय।
अंक लिखे ज्यौतिष गतसार, ब्राह्मी सुन्दरि निज मन धार।।"[1]

ब्राह्मी का पूज्यभाव—

उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि ब्राह्मी (ऋषभदेव की पुत्री) के नाम पर लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा। किसी देश, भाषा, स्थान, या वस्तु का नाम उसी व्यक्ति के नाम पर रखा जाता है, जिसने अपनी साधना से लोकख्याति प्राप्त की हो। चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष इसलिए पड़ा कि उन्होंने प्रजाओं का भरण-पोषण अपने दिल की गहराइयों से किया। प्रजा की चिन्ता उनकी अपनी चिन्ता थी।[2] उनके भी पूर्व महाराजा नाभि के नाम पर इस देश का नाम अजनाभवर्ष था।[3] उन्होंने भोगभूमि से कर्मभूमि में वदलते युग की समस्याओं को साधा था। इससे प्रजा के भयावह कष्ट दूर हुए थे और उन्हें राहत की सांस मिली थी। अभूतपूर्व निष्ठा, पौरुष और प्रतिभा से किया गया कोई भी कार्य अपने कर्त्ता को अमर बना देता है। ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ने भी लिपि के मार्ग को इतना समुन्नत और प्रशस्त किया कि वह लिपि उन्हीं के नाम से ख्याति-प्राप्त हुई। ब्राह्मी साधिका थीं, उन्होंने योग साधा था, समाधि लगाई थी और उसका परिणाम थी ब्राह्मी लिपि। आगे चल कर, यह लिपि भारतीय लिपियों की जन्मदात्री वनी।[4] हम उसके चरणों में शिरसावनत हैं।

ब्राह्मी के प्रति भारतवासियों के हृदय में सदैव श्रद्धा का भाव रहा है। वे समय-समय पर अपने श्रद्धा-विगलित भाव-सुमन उसके चरणों में अर्पित करते रहे हैं। भगवती सूत्र-जैसे प्राचीन ग्रन्थ में सूत्रकार ने ब्राह्मी लिपि को नमस्कार करते हुए लिखा है, "णमो बंभीए लिवीए," अर्थात् ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो। इस सूत्र पर भाष्यकार ने कतिपय महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ लिखी हैं—"भावश्रुतं हि द्रव्यश्रुतं प्रति हेतुः। अक्षरात्मकं च तद् द्रव्यश्रुतं। श्रुतज्ञानस्यात्यन्तोपकारि-

---

१. मनसुखसागर, हिन्दी आदिपुराण, १४२, पृ० १४६.
२. देखिए मेरा ग्रन्थ 'भरत और भारत', आमुख, पृष्ठ ६-७, मिलाइए—"विस्वभरन पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।" रामचरित मानस १/१९७/७.
३. मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन, डा. वासुदेव शरण अग्रवाल सम्पादित, पादटिप्पड़ १, पृ० १३८.
४. सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ, कन्नड़ साहित्य का इतिहास, पृ० ६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वाद् द्रव्यश्रुतं नमस्कुर्वन् आह सूत्रकारः—ब्राह्म्यै लिपये नमः। एषा हि द्रव्यश्रुत रूपा ब्राह्मी लिपिरित्यभिधीयते। अत्र ब्राह्मीलिपिरिति शब्दद्वयी निर्वचनमपेक्षते। तद्यथा—'लेहं लिवी विहाणं जिणेण बंभीइ दाहिणकरेणं,' अयमर्थः—'लेखो लिपिविधानं तद्दक्षिणहस्तेन जिनेन ब्राह्म्या दर्शितमिति।' तस्माद् ब्राह्मी नाम्नी सा लिपिः।"[१] इसका अर्थ है—भावश्रुत ही द्रव्यश्रुत के प्रति हेतु है, अर्थात् कारण-रूप है। द्रव्यश्रुत अक्षरात्मक होता है—अक्षरों में लिखे गये ग्रन्थ द्रव्यश्रुत कहलाते हैं। अतएव द्रव्यश्रुत श्रुतज्ञान का अत्यधिक उपकारी है। उसे नमस्कार करते हुए सूत्रकार का कथन है—ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो। यहाँ 'ब्राह्मी लिपि' ये दो शब्द विवेचन की अपेक्षा रखते हैं। लिपि विधान लेख को कहते हैं, वह जिनेन्द्र भगवान् ने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को सिखाया था। इसी कारण उस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा।

अभिधान राजेन्द्रकोश में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत किया गया है। उसमें देश, शास्त्र और गुरु की परिचायिका ब्राह्मी लिपि और ब्रह्म रूप अर्हत्प्रतिमा को एक ही वताया है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों पूज्य हैं। वह श्लोक है—

"लुप्तं मोहविषेण किं किमुहतं मिथ्यात्वदम्भोलिना,
मग्नं किं कुनयावटे किमु मनोलीनं नु दोषाकरे।
प्रज्ञप्तौ प्रथमं नतां लिपिमपि ब्राह्मीमनालोकयन्,
वन्द्यार्हत्प्रतिमा न साधुभिरिति ब्रूते यदुन्मादवान्॥"[२]

अर्थः—श्री अर्हन्तदेव की प्रतिमा का वन्दन साधुओं को नहीं करना चाहिए, ऐसी असत् दुरुक्ति कहने वाले को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि क्या तुम्हारा मन मोहविष पीकर काल-कवलित हो गया है? क्या मिथ्यात्वरूपी वज्र ने उस पर आघात किया है? क्या कुनीति के गहन गर्त्त में गिर गया है? क्या उसे दोष-समूह ने आत्मसात् कर लिया है? अन्यथा 'णमो बंभीए लिविए' कहते हुए आचार्यों ने देव-शास्त्र आदि की परिचायिका वर्णमयी लिपि तक को नमस्कार किया है, वह स्वयं ब्रह्मरूप अर्हत्प्रतिभा को अवन्दनीय कहने वाले तुम उन्मत्त तो नहीं हो? अर्थात् तुम्हारा वैसा कथन उन्मत्त प्रलाप-मात्र है।

ब्राह्मी ने अपना समूचा जीवन वर्णमयी लिपि की साधना में लगाया। अन्त में वह अपने पिता (ऋषभदेव), जो प्रव्रजित होकर तीर्थंकर बने, से दीक्षा लेकर

१. भगवतीसूत्र, संस्कृत व्याख्या, श० १, श० १, उ०
२. अभिधानराजेन्द्रकोश, पंचम भाग, पृष्ठ १२०९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्यिका बनी। उसने तप किया और आर्यिकाओं में अग्रणी हो गई। अमरों ने उसकी पूजा की। महापुराण में इसका उल्लेख है—

"भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः।।"[१]

अर्थ—भरत की बहन ब्राह्मी ने गुरु के अनुग्रह से दीक्षा ली और कुछ समय में ही आर्यिकाओं में गणिनीपद को प्राप्त हो गई। अमरों से पूजित बनी।

ऐसा ही एक उल्लेख आचार्य दामनन्दि के 'पुराणसार संग्रह' में भी प्राप्त होता है। उसमें लिखा है कि अपने जीवन से सन्तुष्ट ब्राह्मी, सुन्दरी सहित पुरुदेव अर्थात् भगवान् ऋषभदेव की शरण को प्राप्त हुई। वहाँ दीक्षा लेकर आर्यिकाओं की पुरस्सरी बन गई। पुरस्सरी का अर्थ है अग्रणी। ऐसा अवश्य ही द्रव्यश्रुत में निष्णात होने के कारण हुआ होगा। वह श्लोक है—

"ब्राह्मी ससुन्दरी तुष्टा प्रपद्य शरणं पुरुम्।
अभिषेकमवाप्याभूदार्यिकाणां पुरस्सरी।।"[२]

नाटच-शास्त्र के प्रसिद्ध रचयिता भरतमुनि ने ब्राह्मी को नाटचमातृ का पद प्रदान किया है। उसके प्रसन्न होने की कामना की है, क्योंकि प्रसन्न नाटचमातृ नाटक के उद्देश्य को सफल बनाने में पूर्ण समर्थ है। उन्होंने ब्राह्मी को बारम्बार नमस्कार किया है।[३] भागुरि ने 'ब्राह्म्याद्या मातरः स्मृताः' लिख कर ब्राह्मी आदि माताओं को स्मरणीय माना है। भागुरि का तात्पर्य है कि ब्राह्मी आदि माताएँ पावनता की प्रतीक हैं और उनके स्मरण से मन पवित्र हो जाता है। हर्षकीर्ति ने 'शारदीय नाममाला' में वाग्देवी, शारदा, भारती, गीः और सरस्वती को ब्राह्मी का पर्यायवाची बताते हुए लिखा है—"हंसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु नः"[४] अर्थात् हंसयाना सरस्वती हमें सदैव वरदान देवे। उन्होंने उसमें वर देने वाली सामर्थ्य को स्वीकार किया है।

महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि पूर्वकाल में ब्रह्मा ने ब्राह्मी और सरस्वती की रचना चतुर्वर्णों के लिए की थी, किन्तु वे लोभ में पड़ कर अज्ञानता को प्राप्त हो गये। इसका अर्थ है कि ब्राह्मी लिपि का ज्ञान चारों वर्णों के लिए समान रूप से निर्धारित किया गया था, केवल ब्राह्मण के लिए नहीं। लिखने-पढ़ने का अधिकार

१. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, २४/१७५.
२. पुराणसार संग्रह, डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी-सम्पादित, इसमें संकलित आदिनाथ चरित, ३/८४, पृ० ४८.
३. "नमोस्तु नाटचमातृभ्यो ब्राह्म्याद्याभ्यो नमोनमः।" भरतमुनि, नाटचसूत्र, ३/६७.
४. शारदीया नाममाला, १/२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्राह्मण को ही नहीं, सभी वर्णों को था। इससे यह भी सिद्ध है कि जो लोभ के वशीभूत है, वह ज्ञानार्जन नहीं कर पाता, अपितु अर्जित को भी विस्मरण कर जाता है। महर्षि वेद व्यास ने लिखा है—

"वर्णाश्चत्त्वार एते हि येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गताः ॥"[१]

अर्थ—पूर्व में (पहले) ब्रह्मा के द्वारा चार वर्णों की स्थापना की गई थी और जिनके लिए ब्राह्मी लिपि तथा सरस्वती (विद्या) की रचना की थी, वे लोभ के कारण अज्ञानता को प्राप्त हो गये।

यह कहना ठीक नहीं होगा कि दीक्षित ब्राह्मण ही ब्राह्मी लिपि का प्रयोग और उच्चारण करने का अधिकारी था। ताड्य ब्रा० १७/४ में लिखा है, "अदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति" इसका अर्थ है कि—व्रात्य लोग यद्यपि दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाये हुओं की भाषा बोलते हैं। डा० सम्पूर्णानन्द ने व्रात्यकाण्ड-भूमिका में लिखा है, "उपनयनादि से हीन मनुष्य व्रात्य कहलाता है। ऐसे लोगों को वैदिक कृत्यों के लिए सामान्यतः अनधिकारी और पतित माना जाता है, किन्तु यदि कोई व्रात्य विद्वान् और तपस्वी हो तो ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करें, फिर भी वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।"[२] द्राविड़ों को भी अदीक्षित और अनार्य माना जाता था, किन्तु द्राविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं, ऐसा विद्वान् मानते हैं। श्री दिनकरजी ने अपने ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है, "ब्राह्मी का ज्ञान अशोक के समय दक्षिण भारत में भी प्रचलित रहा होगा, अन्यथा अशोक ने अपने अभिलेख दक्षिण में भी ब्राह्मी में ही नहीं खुदवाये होते। दक्षिण भारत में प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार ब्राह्मी ऋषभदेव की बड़ी पुत्री थीं। ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया, जिनमें से एक लिपि कन्नड़ हुई।"[३] तेलगू तथा कन्नड़ लिपियों में अत्यल्प अन्तर है, उतना जितना कि गुजराती और देवनागरी में। दो-तीन अक्षरों के सिवा बाकी सब अक्षर दोनों लिपियों में समान हैं। ब्राह्मी लिपि की वही शाखा, जिससे कन्नड़ लिपि निकली है, दक्षिण में सिंहल तथा पूर्व में सुदूर जावा तक जा पहुँची। तमिल लिपि ब्राह्मी लिपि की दूसरी शाखा से निकली है।[४] अर्थात् द्राविड़ों को ब्राह्मी लिपि सीखने और बोलने का अधिकार था। आचार्य वराहमिहिर ने तो यहाँ

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, १२/१८१/१५.
२. व्रात्यकाण्ड भूमिका, डॉ० सम्पूर्णानन्द-लिखित, पृष्ठ २.
३. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४.
४. 'कन्नड़ साहित्य का नवीन इतिहास', पृ० ६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक लिखा कि वे म्लेच्छ और यवन, जिनमें शास्त्र भली भाँति स्थित हैं, ऋषिवत् पूजे जाते हैं। उनका कथन है—

"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः।"

'पण्णवणासुत्त' में, भाषा के अनुसार आर्य केवल उनको बताया, जो अर्द्धमागधी भाषा में वार्तालाप करते हैं, लिखते-पढ़ते हैं और जिनमें ब्राह्मीलिपि का व्यवहार होता है।[1] अर्थात् उन्होंने उन सबको आर्य माना, जो अर्द्धमागधी प्राकृत में बोलते और ब्राह्मी लिपि का व्यवहार करते हैं, फिर वह यवन हो या म्लेच्छ, शूद्र हो या ब्राह्मण, क्षत्रिय हो या वैश्य। 'अववाइअसुत्त' में भी लिखा है कि भगवान् महावीर आर्य और अनार्य दोनों को समान रूप से धर्मोपदेश करते थे—"तेसिं सव्वेसिं आर्य-अणारियाणं अगिलाए धम्मं आइक्खइं।"[2] अर्थात् जैनों ने भाषा और लिपि के अध्ययन और अध्यापन में जाति-भेद को कभी स्वीकार नहीं किया। लिखने-पढ़ने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है, अन्य किसी को नहीं, इस मान्यता की रचना ब्राह्मण ने की और उसका प्रचार भी किया। श्रमण-परम्परा ने ऐसा कभी नहीं माना। उसने लिपि को एक साधना के रूप में स्वीकार किया और उसका द्वार सबके लिए खुला रक्खा।

जैन समाज में श्रुतपञ्चमी का महत्त्व बहुत अधिक है। इस दिन नये शास्त्र लिख कर स्थापित किये जाते हैं और प्राचीन शास्त्रों की वन्दना की जाती है। अर्थात् श्रुतपंचमी का अर्थ श्रुत भक्ति से है—वह किसी रूप में की गई हो, नये शास्त्र लिख कर अथवा प्राचीन शास्त्रों को श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर। श्री आशाधर सूरि ने प्रतिष्ठा सारोद्धार में लिखा है—

"शुभे शिलादावुत्कीर्यं श्रुतस्कन्धमपि न्यसेत्।
ब्राह्मीन्यास विधानेन श्रुतस्कन्धमिह स्तुयात्॥
सुलेखकेन संलिख्य परमागमपुस्तकम्।
ब्राह्मीं वा श्रुतपञ्चम्यां सुलग्ने वा प्रतिष्ठयेत्॥"

—प्रतिष्ठासारोद्धार ६/३३-३४

अर्थ—शुभ मुहूर्त्त में, शिलादि में उत्कीर्ण करके श्रुतस्कंध की स्थापना करे, फिर ब्राह्मी के न्यासविधान से उसकी स्तुति करे। सुलेख-पूर्वक परमागम पुस्तक अथवा ब्राह्मी लिख कर श्रुतपञ्चमी के शुभ मुहूर्त्त में उसकी स्थापना करे।

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के दो सौ वर्ष पश्चात् जैन ऋषियों ने मौखिक पठन-पाठन के साथ ग्रन्थ रचना प्रारम्भ की। सबसे पहले आचार्य गुणधर ने कषाय पाहुड और आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि ने षट्खण्डागम को लिपिबद्ध किया। इस

१. पण्णवणासुत्त–५९.
२. अववाइअसुत्त, पारा-५६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ में पौने दो लाख श्लोक हैं। यह ग्रन्थ ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी के दिन पूर्ण हुआ था। उस दिन सभी भव्य जीवों ने उस ग्रन्थ की पूजा की। तभी से यह दिन श्रुत पञ्चमी के नाम से प्रसिद्ध हुआ और ज्ञान का प्रतीक बना। आचार्य इन्द्रनन्दि ने इसका वर्णन करते हुए 'श्रुतावतार' में लिखा है—

ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यं संघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रिया-पूर्वकं पूजाम् ॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥

—श्रुतावतार १४३-१४४

अर्थ—ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी के दिन कषायपाहुड और षट्खण्डागम की पूजा, चतुर्विध संघ, और चतुर्वर्ण सहित, क्रिया-पूर्वक की गई थी। इसी कारण श्रुतपञ्चमी पवित्र ख्याति को प्राप्त हुई। आज भी जैन लोग उस दिन श्रुत पूजा करते हैं। वास्तव में यह पूजा लिपि-पूजा ही है।

केवल श्रमण परम्परा में ही नहीं, अपितु वैदिकों में भी ब्राह्मी को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की देनेवाली—'धर्मार्थकाममोक्षदा' कहा गया है। कूर्मपुराण की एक संहिता का नाम ब्राह्मी है। वह चार वेदों से सम्मत है और उसमें छः हजार श्लोक हैं, अर्थात् वह बाह्य और अन्तः दोनों प्रकार के ज्ञान से भरपूर है। इस संहिता की दो पंक्तियाँ हैं—

इयन्तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैस्तु सम्मिता।
भवन्ति षट् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया ॥

—कूर्मपुराण, १/२२-२३

ब्राह्मी को 'वरदा' बहुतों ने कहा, जैनाचार्यों ने भी। हम जो कुछ चाहते हैं, उसे प्राप्त करने के लिए एक माध्यम की आवश्यकता होती है, फिर वह माध्यम महावीर के रूप में हो, बुद्ध, कृष्ण या ईसा के रूप में। माध्यम तो माध्यम ही होता है, वह हमें प्रेरित कर सकता है, आगे बढ़ा सकता है, किन्तु प्राप्तव्य प्राप्त होता है, अपनी ही शक्ति से। जब तक हम में दृढ़ विश्वास न होगा, हम अपनी कोई भी—इह-लौकिक अथवा पारलौकिक इच्छा पूरी नहीं कर सकते, यह सच है। साथ ही यह भी ठीक है कि जिसे हमने अपना प्रेरणा सूत्र माना है और जिससे प्रेरणा प्राप्त कर हमारा विश्वास दृढ़ से दृढ़तर बना है, वह हमारे लिए सम्मान्य और पूज्य तो है ही। ब्राह्मी भी ऐसे ही पूज्य स्थान पर प्रतिष्ठित है। प्रसिद्ध पं० आशाधर ने अपने अनगारधर्मामृत में ब्राह्मी से आशीर्वाद माँगा है, जिससे कि वे मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ जैसी भावनाओं में सतत् तत्पर रहें, उन्हें निरन्तर भाते रहें। भायेंगे वे स्वयं, किन्तु उनका मन डगमगाता है, उसे मजबूत बनाना है। वह उन भावनाओं में अडिग बना रहे, ऐसा वे चाहते हैं। अतः ब्राह्मी की ओर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखते हैं। वह ऐसी ही साधिका थी। उसने चारों भावनाओं को निश्चल मन से भाया था। पं० आशाधर ने 'अनगारधर्मामृत' में लिखा है, "अनन्त चतुष्टय परमपद की प्राप्ति के लिए अभिमुख मुनियों को मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ चारों भावनाओं को निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। प्राणिमात्र में दुखों को उत्पन्न न होने की आकांक्षा मैत्री, गुणवानों में हर्षरूप मनोराग प्रमोद, दुखियों में उदारबुद्धि कारुण्य और अनुकूल-प्रतिकूल व्यक्तियों में समता-माध्यस्थ भावना है। हे ब्राह्मि! वचनों की तथा आत्मा की देवि! मुझे आप ऐसी शिक्षा दें कि मैं इन भावनाओं में तत्पर रहूँ।"[१]

किसी समय ऊपरी रावी घाटी अथवा बुड्ढल नदी घाटी का क्षेत्र ब्राह्मी का प्रभाव क्षेत्र माना जाता था, ऐसा उसके पुरातात्त्विक अवशेषों से अनुमानित होता है। आधुनिक चम्बा जिले के भरमौर स्थान से एक मील पर्वतीय ऊँचाई की ओर बढ़ने पर एक देवी मन्दिर मिलता है। वह काष्ठनिर्मित है। उसमें सिंहारूढ देवी की एक पीतल की प्रतिमा है। प्रतिमा के पीछे एक व्यक्ति खड़ा है, जो देवी को पकड़े हुए है। यहाँ के निवासी इस मूर्त्ति और मन्दिर को ब्रह्माणी देवी का कहते हैं। उनका कथन है कि आदिकाल में इस क्षेत्र पर ब्रह्माणी देवी का अद्वितीय प्रभाव था। उसी के नाम पर इसे ब्रह्मपुरी कहते थे। यह भूमि उसी देवी की मानी जाती थी।

इस स्थान से एक मील नीचे चौरासिया का मैदान है, जिसमें चौरासी लिंग स्थापित हैं। वहाँ गणेश, शीतला और लक्षणा देवियों के मन्दिरों के अतिरिक्त एक विशाल शिव मन्दिर तथा अष्टधातु का नादिया बैल भी है। आधुनिक समय में निर्मित एक नागाबाबा-मन्दिर भी है, जिसमें अस्सी सहस्र रुपये व्यय हुए हैं। इस मंदिर की निर्माण-शैली राजपूत है। यहाँ के लोगों का कथन है कि आदिकाल में यहाँ 'ब्रह्माणी देवी' का विशाल मंदिर था। सब उसी के भक्त थे। यदि इस स्थान की खुदाई कराई जाये तो उस मन्दिर के अवशेष मिल सकते हैं। यह कथन इस बात से और भी पुष्ट हो जाता है कि गणेशमन्दिर की वेदी पर जो पुष्पमय चित्रकारी है, वह निःसन्देह जैन है, ऐसा कनिंघम ने बहुत पहले ही लिख दिया था।[२]

यह सच है कि यह क्षेत्र किसी समय श्रमण संस्कृति का प्रमुख स्थान था। सिकन्दर महान् ने अपने आक्रमण के समय (३२६ ई. पू.) यहाँ अनेक जैन

१. पं० आशाधर, अनगारधर्मामृत, ४/१५१.

२. "भरमौर के गणेश मंदिर की वेदी पर जो पुष्पमय चित्रकारी है (फोटो नं० ३०), वह निःसंदेह जैन या बौद्ध है, जैन चित्रकारी से अधिक मिलती-जुलती है।"

Cunningham, A. S. R. xiv, P. 112, मिलाइए **Vogel A. S. R, 1902-3, P. 239, Fig. 5, Antiquities, P. 140, 142, F. Plates viii.**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधुओं को देखा था।[१] वह उनके त्याग, तप, नितांत अनासक्ति और वीतरागता से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि आचार्य दोलामस को अपने साथ यूनान ले जाना चाहता था, किन्तु उन्होंने इनकार कर दिया, फिर भी वह एक साधु को ले जाने में समर्थ हुआ।[२] इस क्षेत्र में जैन साधुओं की यह परम्परा एक लम्बे काल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही थी, ऐसा मैं मानता हूँ। उसका आधार भी है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव, जिनका उल्लेख वेदों से श्रीमद्भागवत् तक में पाया जाता है और जिन्हें कुछ विद्वानों ने वेद-पूर्व भी स्वीकार किया है, ने पंजाब और सीमान्त का समूचा भाग अपने पुत्र बाहुबलि को दिया था। वे ही इस प्रदेश के राजा थे। कल्पसूत्र के अनुसार भगवान् ने अपनी पुत्री ब्राह्मी, जो भरत के साथ सहजन्मा थी, बाहुबलि को दी थी। उसका अधिवास इधर ही था। अन्त में वह प्रव्रजित होकर और सर्वायु को भोगकर सिद्धलोक में गई।[3] यदि यह कथन सत्य मान लिया जाये तो ब्राह्मी इस प्रदेश की महाराज्ञी थी। अन्त में वह साध्वी-प्रमुखा भी बनी। इधर ही उसने तप किया। उसकी लोक-प्रियता की बात मैं पहले ही लिख चुका हूँ। आगे चलकर उसकी स्मृति में जन साधारण ने अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित किये हों, तो कुछ अनुचित नहीं लगता। यह संभव है कि उसके नाम पर कभी विशाल मन्दिर का निर्माण हुआ हो। आगे अन्य धर्मावलम्बियों ने उसे विनष्ट कर अपनी नई स्थापनाएँ की हों और एक वेदी अपनी सुन्दर चित्रकारी के कारण बच गई हो और उस पर गणेशजी की मूर्त्ति विराजमान कर दी गई हो। ऐसा भारत के अन्य अनेक स्थानों पर भी हुआ है।

इस सन्दर्भ में डॉ. मोहनलाल गुप्ता का एक उल्लेख दृष्टव्य है। उन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध 'Habitant, Economy and Society in Gaddiyars (H. P.)' में लिखा है, "प्रश्न यह है कि यदि श्रमण विचारधारा इस क्षेत्र में प्राचीन समय से थी तो बाद में स्पष्टतः उसके दर्शन क्यों नहीं हुए? इस विषय में हमारा मत है कि वर्त्तमान चम्बा जिले और भरमौर को सात ईस्वी पश्चात् बौद्धों ने बहुत प्रभावित किया। इससे यहाँ की जैन विचार-धारा को आघात पहुँचा होगा। बौद्धों के पश्चात् चम्बा जिले तथा भरमौर को नवीन ढंग से बसाने वाले वर्मन शासकों ने शंकराचार्य के प्रभाव के कारण, इस क्षेत्र से श्रमण सभ्यता के चिह्नों को पूरी तरह नष्ट करके इस स्थिति में ला दिया होगा, जिससे वह क्षेत्र उनके धर्म एवं अस्तित्व का एकमात्र

1. Kausambi D. D., 'An Introduction to the study of Indian History,' Bombay--1959, Page 180.
2. 'The Lite of the Buddha' by E. I. Thomas, 1927, P. 115.
३. "ऋषभदेवस्य सुमङ्गलायां देव्यां, भरतेन सहजातायां पुत्र्याम्, ति०/सा च बाहुबलिने भगवता. दत्ता प्रव्रजिता प्रवर्तिनी भूत्वा चतुरशीतिपूर्वं शतसहस्राणि सर्वाऽऽयुः पालयित्वा सिद्धा।"
कल्पसूत्र १, अधि० ७ क्षण, अभिधान राजेन्द्रकोश, पंचम् भाग, पृष्ठ १२८४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थान वन जाये। धार्मिक विद्वेष के कारण अनेक श्रमण धार्मिक चिह्नों का विनाश तथा उनका इतिहास से पृथक्करण भारत के अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी कर दिया गया होगा।"[1]

'ब्राह्मी लिपि' की दीक्षा-शिक्षा

भारतवर्ष संस्कारों का देश है। यहाँ विना संस्कार के कोई काम नहीं होता। उनमें एक लिपि-संस्कार भी है। इसका अर्थ है—अक्षरों और अंकों का प्रारम्भ। भारतीय ग्रंथों के अनुसार चौलकर्म संस्कार के उपरान्त ही लिपि-संस्कार होना चाहिए। चौलकर्म मुंडन संस्कार को कहते हैं, अर्थात् लिपि ज्ञान आरम्भ करने के पूर्व, गर्भ से चले आये बालों का मुंडन होना आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह उचित भी है। इसके लिए आचार्यों ने पाँच वर्ष की आयु निश्चित की थी। जैन और अजैन दोनों ग्रंथों में यह आयु समरूप से मान्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघु की शिक्षा आदि के सम्वन्ध में पर्याप्त लिखा है। मल्लिनाथीय-टीका में, वैदिक ग्रन्थों—मनुस्मृति आदि के सहाय्य से उसे और अधिक स्पष्ट किया गया है। उनका कथन है कि रघु का अक्षरारम्भ या लिपिज्ञान पाँच वर्ष की आयु में प्रारम्भ हुआ था। एक श्लोक की टीका में उन्होंने लिखा है—

"स वृत्त चूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥"[2]

मल्लिनाथीय टीका—"स रघुः प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भं च कारयेद्, इति वचनात् पञ्चमे वर्षे. . . .अमात्यपुत्रैरन्वितः सन्। लिपेः पञ्चाशद्वर्णात्मिकाया मातृकाया यथावद् ग्रहणेन सम्यग् बोधेनोपायभूतेन वाङ्मयं शब्दजातं..."[3]

अर्थ—महाराज दिलीप ने अपने कुमार रघु का यथाविधि चूडाकर्म (गर्भ-केशमुण्डन) संस्कार किया। वह कुमार शिर पर निकले मसृणमेदुर श्यामकेशों से शोभायमान और अपनी समान वय के मन्त्रिपुत्रों के साथ गुरुकुल में जाने लगा। वहाँ उसने स्वरव्यञ्जनात्मिका लिपि का ज्ञान प्राप्त किया, जिससे उसे शब्द-वाक्यादि रूप वाङ्मय में प्रवेश करना उसी प्रकार सरल हो गया जैसे नदी में बहकर आने वाले किसी मकरादि जलपशु को समुद्र प्रवेश सुलभ हो जाता है।

यहाँ आचार्य मल्लिनाथ की टीका का यह कथन—'स रघुः प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भं च कारयेद् इति वचनात् पञ्चमे वर्षे. . . .।' ध्यान देने योग्य

१. डॉ० मोहनलाल गुप्ता, 'Habitant, Economy and Society in Gaddiyars', टंकित प्रति, पृष्ठ ३५८.

२. कालिदास, रघुवंश, ३/२८.

३. रघुवंश—मल्लिनाथीय टीका ३/२८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। उन्होंने "प्राप्ते पञ्चमे वर्षे" किसी अन्य ग्रंथ से उद्धृत किया है और यह माना है कि रघु का लिपि संस्कार पाँच वर्ष की वय में, मुण्डन संस्कार के बाद प्रारम्भ हुआ था।

कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र (२/४/४) में लिखा है कि पांच वर्ष की आयु में बालक का मुण्डन संस्कार होना चाहिए और उसके बाद ही वर्णमाला और अंकज्ञान का अभ्यास अपेक्षित होता है। जैन आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में लिपि संस्कार के लिए बालक की पाँच वर्ष की आयु निर्धारित की है। उनकी दृष्टि में भी चौलकर्म पहले हो जाना चाहिए।[1] कवि वादीभसिंह के छत्रचूड़ामणि में कुमार जीवन्धर का अक्षरारम्भ पाँच वर्ष की आयु में हुआ था।[2] पार्श्वनाथ चरित में भी कुमार रश्मिवेग ने लिपि का आरम्भ पाँच वर्ष की आयु में किया था।[3]

विद्वानों के मध्य प्रश्न यह रहा है कि बालक का विद्यारम्भ चौलकर्म के बाद पाँच वर्ष की आयु में करना चाहिए अथवा उपनयन संस्कार के अनन्तर आठ वर्ष की आयु में? उपनयन संस्कार अथवा उपनीतिक्रिया के सम्बन्ध में, आदि पुराण में लिखा है कि यह गर्भ से अष्टम वर्ष में सम्पन्न होता है। इसमें बालक को मूँज की वनी मेखला धारण करनी होती है। इसे मौंजीवन्धन कहते हैं। मेखला तीन लर की होती है और उसे रत्नत्रय का द्योतक माना जाता है। बालक को सफेद धोती पहनना, चोटी रखना और सात लर का यज्ञोपवीत धारण करना होता है। विद्यासमाप्ति तक ब्रह्मचर्यव्रत और भिक्षावृत्ति आवश्यक मानी गई है।[4] याज्ञवल्क्यस्मृति, संस्काररत्नमाला और स्मृतिचन्द्रिका आदि वैदिक ग्रंथों में उपनयन के बाद ही लिपिज्ञान और शास्त्र के ज्ञान का आरम्भ वतलाया गया है। जैन महाकवि असग ने वर्द्धमान चरित (५/२७) में और कवि धनञ्जय ने द्विसन्धान महाकाव्य (३/२४/) में भी उपनयन के बाद ही बालक का अक्षरारम्भ अथवा अन्य विद्यारम्भ स्वीकार किया है, अर्थात् ये लोग लिपिसंस्कार चौलकर्म के बाद नहीं, अपितु उपनयन संस्कार सम्पन्न होने पर मानते हैं। चौलकर्म पाँच वर्ष की आयु में और उपनयन आठ वर्ष की आयु में होता है। 'जम्बूस्वामी चरिउ' में लिखा है कि कुमार ने आठ वर्ष की आयु में सम्पूर्ण सूत्रार्थों और निःशेष कलाओं को जान लिया था। इसका अर्थ है कि कुमार ने पाँच वर्ष की आयु में विद्यारम्भ किया और आठ वर्ष की आयु तक, अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण वह समूची विद्याओं में पारंगत हो गया। उपर्युक्त चरिउ के कथन से ऐसा ही आभासित होता है—

---

१. आदिपुराण, ३८/१०२-१०३.
२. छत्रचूड़ामणि, १/११०-११२.
३. पार्श्वनाथ चरित, ४/२६-२८.
४. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, पृष्ठ २६१–६२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अट्ठवरिसकप्पेण कुमारें
पुण्णावज्जिय विज्जापारें ।
गुरुपाढण निमित्त मंतत्त्थइँ
जाणियाइँ पढियाइँ वसत्त्थइँ ।
संपाइयति वग्गफल रसियउ
नीसेसाउ कलउ अब्मसियउ ।"[1]

अर्थ—आठ वर्ष की आयु होने पर कुमार ने सकल विद्याओं का पार पा लिया। गुरु के पढ़ाने के निमित्त से उसने मंत्रार्थों अर्थात् सूत्रों के मंतव्यों को और शास्त्रों को पहले से हीं पढे हुए के समान जान लिया। त्रिवर्गफल अर्थात् धर्म, अर्थ व काम का सम्पादन करने वाली और चित्त में रस अर्थात् आनन्द उत्पन्न करने वाली निःशेष कलाओं का अभ्यास कर लिया।

'जिणदत्तचरिउ' हिन्दी के आदिकाल की महत्त्वपूर्ण रचना है। कविवर रल्ह ने इसे वि. सं. १३५४ में रच कर पूरा किया था।[2] इसके अनुसार बालक ने १५ वर्ष की आयु में विद्यारम्भ किया और वीस वर्ष की आयु तक सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओ में प्रवीण हो गया।[3] हिन्दी के आदिकाल की ही एक दूसरी कृति है—प्रद्युम्न चरित्र। इसके रचयिता सधारु वि. की १४वीं सदी के उत्तमकोटि के कवि थे। उन्होंने भी प्रद्युम्न का विद्यारम्भ १५ वर्ष की आयु में माना है। प्रद्युम्न की वुद्धि कुशाग्र थी। वह शीघ्र ही लक्षण, छन्द, तर्क, नाट्य, धनुष एवं बाणविद्या में पारंगत हो गया।[4]

इस सन्दर्भ में भट्टारक सोमसेन का 'त्रैवर्णिकाचार' एक दृष्टव्य ग्रंथ है। उसमें सभी संस्कारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उनका स्पष्ट मत है कि लिपि-संस्कार चौलकर्म के बाद और उपनयन से पूर्व होना चाहिए। उन्होंने लिखा है—

"द्वितीयजन्मनः पूर्वमक्षराभ्यासमाचरेत् ।
मौञ्जीबन्धनतः पश्चाच्छास्त्रारम्भो विधीयते ।।
पञ्चमे सप्तमे चाब्दे पूर्वं स्यान्मौञ्जिबन्धनात् ।
तत्र चैवाक्षराभ्यासः कर्त्तव्यस्तूदगयने ।।[5]

अर्थ—बालक को द्वितीय जन्म (द्वितीय संस्कार) अर्थात् उपनयन संस्कार से पूर्व अक्षराभ्यास कराना चाहिये और उपनयन के बाद शास्त्रारम्भ होना

---

१. जम्बूस्वामी चरिउ, ४/६, पृष्ठ ७०.
२. जिणदत्तचरिउ, डा० माताप्रसाद गुप्त सम्पादित, महावीर शोध संस्थान, जयपुर, १९६६, भूमिका, पृष्ठ ४.
३. वही, पद्य ६३ वाँ, पृष्ठ २६.
४. प्रद्युम्नचरित्र, शोध संस्थान, जयपुर, पद्यसंख्या १३७-३८, पृष्ठ २९.
५. सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१६३-६४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिए, ऐसा विधान है। मौञ्जिवन्धन से पूर्व पाँचवें अथवा सातवें वर्ष में, जब सूर्य उत्तरायण हो, बालक को लिपिज्ञान आरम्भ करवा देना उपयुक्त है।

सोमसेन ने केवल सूर्य के ही उत्तरायण और दक्षिणायन पर विचार नहीं किया है, अपितु उन्होंने शुभ और अशुभ नक्षत्रों की भी गणना की है। उनका कथन है कि यदि वालक को उत्तम नक्षत्र में लिपिज्ञान आरम्भ कराया जाये तो विद्या सहज सिद्ध होती है और कोई व्यवधान नहीं आता। सिद्ध पुरुष ऐसा ही मानते हैं—

"मृगादिपंचस्वपि तेषु मूले। हस्तादिके च क्रियतेऽश्वनीषु।
पूर्वात्रिये च श्रवणत्रये च। विद्यासमारम्भमुशन्ति सिद्धये ॥"[1]

अर्थ—वालक को विद्यारम्भ मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मूल, हस्त, चित्रा, अश्विनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा, श्रवण, धनिष्ठा और शततारका नक्षत्रों में कराना चाहिए। ऐसा करने से विद्या की सिद्धि सहज ही हो जाती है, ऐसा विद्वानों ने कहा है।

दिनों का विचार प्रायः चलता है। अर्थात् विद्यारम्भ के लिए कौन-सा दिन शुभ होता है और कौन-सा अशुभ? सोमसेन ने इस सम्बन्ध में भी विचार किया है। उनकी दृष्टि में रविवार को विद्यारम्भ कराने से आयुवृद्धि, सोमवार को स्थूलबुद्धि, मंगलवार को मृत्यु, बुधवार को मेधाशक्ति, गुरुवार को कुशल बुद्धि, शुक्रवार को तर्कशक्ति और शनिवार को शरीर-क्षीणता होती है। अनध्याय के दिनों, प्रदोष के समय, छठ तथा रिक्ता तिथियों—चतुर्थी नवमी और चतुर्दशी को विद्यारम्भ नहीं कराना चाहिए। विद्यारम्भ के लिए बुधवार, गुरुवार और शुक्रवार शुभ माने गये हैं, सोमवार और रविवार मध्यम, शनिवार और मंगलवार निकृष्ट हैं। पाँचवाँ वर्ष लगने पर और सूर्य के उत्तरायण होने पर, वालक को विद्यारम्भ का मुहूर्त्त कराना चाहिए। उस समय सरस्वती और क्षेत्रपाल की पूजा शुभ होती है—

"आदित्यादिषु वारेषु विद्यारम्भफलं क्रमात्।
आयुर्जाड्यं मृतिर्मेधा सुधीः प्रज्ञा तनुक्षयः॥
अनध्यायाः प्रदोषाश्च षष्ठी रिक्ता तथा तिथिः।
वर्जनीया प्रयत्नेन विद्यारम्भेषु सर्वदा॥
विद्यारम्भे शुभा प्रोक्ता जीवज्ञप्तित वासराः।
मध्यमौ सोमसूर्यौ च निन्द्यश्चैव शनिः कुजः॥
उद्गगते भास्वति पंचमेऽब्दे। प्राप्तेऽक्षर स्वीकरणं शिशूनाम्।
सरस्वती क्षेत्रसुपालकं च। गुडोदनाद्यैरभिपूज्यं कुर्यात्॥"[2]

१. वही, ८/१६५.
२. सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१६६-६६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार एक सुनिश्चित काल में बालक को विद्यारम्भ कराना चाहिए। उस दिन, अम्बा गुरु और शास्त्र की पूजा करे तथा जिनालय में जाकर होम और जिन-पूजा सम्पन्न करे। इसके बाद बालक को स्नान कराकर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर और ललाट में तिलक लगाकर विद्यालय में ले जावे। वहाँ निर्विघ्न विद्या-पूर्ति के लिए जय आदि पंच देवताओं की पूजा करे, नमस्कार करे। फिर वस्त्र, आभूषण, फल और द्रव्य से अध्यापक गुरु की अभ्यर्थना करे, उन्हें भक्ति-पूर्वक हाथ जोड़कर नमस्कार करना चाहिए। आचार्य सोमसेन ने लिखा है—

"एवं सुनिश्चिते काले विद्यारम्भं तु कारयेत्।
विधाय पूजामम्बायाः श्री गुरोश्च श्रुतस्य च॥
पूर्ववद् होमपूजादिकार्यं कृत्वा जिनालये।
पुत्रं संस्नाप्य सद्भूषैरलंकृत्य विलेपनैः॥
विद्यालयं ततो गत्वा जयादि पंचदेवताः।
संपूज्य प्रणमेद् भक्त्या निर्विघ्न ग्रंथसिद्धये॥
वस्त्रैर्भूषैः फलैर्द्रव्यैः संपूज्याध्यापकं गुरुम्।
हस्तद्वयं च संयोज्य प्रणमेद् भक्तिपूर्वकम्॥"[1]

शुभ मुहूर्त्त में, पूजादि पवित्र कार्य सम्पन्न कर, माँ-बाप ने अपना बालक गुरु को सौंप दिया। गुरु सर्वप्रथम उसे अक्षरज्ञान और अंकज्ञान करवाता है। यह लिपि का प्रारम्भ है। यदि बालक उसे सम्यक् रूप से जान लेता है, तो आगे का ज्ञान सहज हो जाता है। इसी कारण, उस समय प्रारम्भिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था। काल, मुहूर्त, दिन, स्नान, पूजा और हवन आदि से ध्वनित है कि बालक के विद्यारम्भ में माता-पिता गम्भीर थे तो गुरु भी उसे गम्भीरता-पूर्वक ही लेता था। वह गुरु प्रतिष्ठा का जीवन जीता था। बालक को पढ़ाने में उसका मन लगता था। वह रुचि लेता था और बालक व्युत्पन्न बन जाता था।

सोमसेन ने त्रैवर्णिकाचार में बताया है कि अध्यापक बालक को लिपिज्ञान किस ढंग से सम्पन्न करवाये। इससे तत्कालीन लिपि-अध्यापन की शैली पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—

१. सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१७०-१७३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"प्राङ्मुखो गुरुरासीनः पश्चिमाभिमुखः शिशुः ।
कुर्यादक्षरसंस्कारं धर्मकामार्थ सिद्धये ।।
विशाल फलकादौ तु निस्तुषाखण्डतण्डुलान् ।
उपाध्यायः प्रसार्याथ विलिखेदक्षराणि च ।।
शिष्य हस्ताम्बुजद्वन्द्व धृतपुष्पाक्षतान् सितान् ।
क्षेपयित्वाक्षराभ्यर्णे तत्करेण विलेखयेत् ।।
हेमादिपीठके वाऽपि प्रसार्य कुङ्कुमादिकम् ।
सुवर्णलेखनीकेन, लिखेत्तत्राक्षराणि वा ।।
'नमः सिद्धेभ्यः' इत्यादौ ततः स्वरादिकं लिखेत ।
अकारादि हकारान्तं सर्वशास्त्रप्रकाशकम् ।।"[1]

अर्थ—लिपि-प्रारम्भ के समय गुरु प्राङ्मुख और शिष्य पश्चिमाभिमुख होकर बैठे। बाद में, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए अक्षर-संस्कार करे। वह इस प्रकार कि एक विशाल फलक मोटी पट्टी पर छिलके-रहित अखण्ड चावलों को बिछाकर उपाध्याय स्वयं अक्षर लिखे, उन अक्षरों के पास बालक के हाथ से सफेद पुष्प और अक्षतों को क्षेपण करवावे, फिर बालक का हाथ पकड़कर, उससे अक्षर लिखवावे। अथवा सोना, चाँदी आदि के पट्ट पर कुंकुम अथवा केशर का लेप कर, सोने की लेखनी से उस पर अक्षर लिखे और बालक से लिखवाये। अक्षर लिखते समय सबसे पहले 'नमः सिद्धेभ्यः' लिखे। इसके बाद अकार से हकार-पर्यन्त स्वर और व्यञ्जन, जो सम्पूर्ण शास्त्रों को प्रकाशित करने वाले हैं, स्वयं लिखे और बालक से लिखवावे।

आचार्य सोमसेन भट्टारक थे और शायद इसी कारण मंत्रों में उनका अटल विश्वास था। यह सच है कि मांत्रिक की संकल्पशक्ति मंत्र को जीवन्त फलदायी प्रमाणित करती है। मंत्र कोई हो, किसी से सम्बन्धित हो। उपर्युक्त प्रसंग में, सोमसेन का कथन है कि बालक को स्वर-व्यञ्जन प्रारम्भ कराते समय निम्नलिखित मंत्रका उच्चारण करना चाहिए—

'ॐ नमोऽर्हते नमः सर्वज्ञाय सर्वभाषाभाषित सकलपदार्थाय बालकं अक्षराभ्यासं कारयामि द्वादशाङ्गश्रुतं भवतु ऐं श्रीं ह्रीं क्लीं स्वाहा।'[2]

लिपि संस्कार के समय, श्रुतदेवता के स्थापन और पूजन की बात 'आदि पुराण' में भी कही गई है। भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी को विद्याग्रहण का आशीर्वाद देकर विस्तृत स्वर्ण पट्ट पर स्वचित्तस्थ श्रुतदेवता को सपर्या

१. सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१७४-१७८.
२. सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, पृष्ठ २५७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(पूजा) पूर्वक स्थापित किया, फिर अपने दोनों हाथों से अक्षरमालिका रूप लिपि और अंकरूप संख्या संस्थान लिखना सिखाया।

"इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया॥
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकां।
उपादिशल्लिपिं संख्या संस्थानं चाङ्कैरनुक्रमात्॥"[1]

लिपि संख्यान का आरम्भ करते समय, भगवान् ने 'सिद्धं नमः' इति व्यक्त-मङ्गला सिद्धमातृका मन्त्र का उच्चारण किया। सिद्धमातृका स्वर-व्यञ्जन के भेद से दो भेदवाली है। समस्त विद्याओं में पाई जाती है। यह अनेक वीजाक्षरों से व्याप्त है और इससे अनेक संयुक्ताक्षर उत्पन्न होते हैं। यह अकार से हकार पर्यन्त और विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अयोगवाह तक शुद्ध मुक्तावली के समान अक्षरावली से प्रदीप्त रहती है। इस मातृका को ब्राह्मी और सुन्दरी ने अच्छी तरह धारण किया—

"ततो भगवतोवक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम्।
'सिद्धं नम' इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम्॥
अकारादि हकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव।
स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम्॥
अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासु सन्तताम्।
संयोगाक्षरसम्भूतिं नैकबीजाक्षरैश्चिताम्॥
समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यति सुन्दरी।
सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत्॥"[2]

वर्णमातृका के ध्यान की वात अनेक जैन ग्रंथों में देखने को मिलती है। 'तत्त्वसार दीपक सन्दर्भ' में एक रुचिकर श्लोक आया है—

"ध्यायेदनादिसिद्धान्त व्याख्यातां वर्णमातृकाम्।
आदिनाथ मुखोत्पन्नां विश्वागमविधायिनीम्॥"[3]

अर्थ—अनादि सिद्धान्त के रूप में प्रसिद्ध एवं सम्पूर्ण आगमों की निर्मात्री, भगवान् आदिनाथ के मुख से उत्पन्न वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए।

वर्णमातृका अथवा वर्णसमाम्नाय के अनादि सिद्धान्त के रूप में प्रसिद्धि की बात भर्तृहरि ने अपने 'वाक्य पदीयम्' में भी लिखी है। उनका कथन है—"अस्याक्षरसमाम्नायस्य वाग्व्यवहारजनकस्य न कश्चित् कर्त्ताऽस्ति एवमेव वेदे पारम्पर्येण स्मर्यमाणम्।" इसका अर्थ है कि—इस अक्षर समाम्नाय का,

१. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/१०३-१०४.
२. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/१०५-१०.
३. तत्त्वसारदीपक—३५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो कि समस्त पद-वाक्य रूप वाग्व्यवहार का जनयिता है, कोई कर्त्ता नहीं है — परम्परा से वेद में ऐसा ही स्मरण किया गया है। 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' तथा 'सिद्धं नमः' पदों से वर्ण समाम्नाय अनादि सिद्ध हैं, यही प्रतिपादित किया गया है।

श्री वादीभसिंह ने छत्रचूड़ामणि में वर्ण समाम्नाय प्रारम्भ करने से पूर्व सिद्ध पूजन, हवन, दानादि सम्पन्न करना आवश्यक बतलाया है। इसके बाद वर्णमाला प्रारम्भ करने से परिणाम शुभ होता है, अर्थात् विद्या सिद्ध होती है, उसमें कोई विघ्न नहीं आता। जीवन्धर की निर्विघ्न विद्या-प्राप्ति के लिए ऐसा ही किया गया था।

"निष्प्रत्यूहेष्ट सिद्ध्यर्थं सिद्ध पूजादि पूर्वकम्।
सिद्धमातृकया सिद्धामथ लेभे सरस्वतीम्॥[1]

अर्थः—अनन्तर, निर्विघ्न विद्या-प्राप्ति के हेतु सिद्ध पूजन, हवन और दानादि को सम्पन्न कर सिद्धमातृका अ, इ, उ, क, ख आदि वर्णमाला (वर्ण समाम्नाय) को सीखना आरम्भ किया।

डॉ० आल्टेकर ने अपने एक लेख (१० व० अ० ग्रं०) में लिखा है कि—शिक्षा के प्रारम्भ में बालक को 'गणेशायनमः' की जगह 'ॐ नमः सिद्धानाम्' कहना होता था। डॉ० ब्लूलर का कथन है—'इस बारहखड़ी को 'ॐ नमः सिद्धम्' के मंगलपाठ के कारण कभी-कभी 'सिद्धाक्षरसमाम्नाय' या 'सिद्धमातृका' भी कहते हैं। इसकी प्राचीनता का प्रमाण हुइ-लिन (७८८ से ८१० ई.) से भी मिलता है। उसने इस मंगलपाठ को पहली फाङ या चक्र कहा है। उस काल में हिन्दू लड़के इसी से विद्यारम्भ करते थे।"[2] डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने 'प्राचीन भारत में शिक्षा' ग्रंथ में विद्यारम्भ 'ओम् नमः सिद्धानाम्' से माना है। ब्लूलर का यह कथन सत्य है कि प्रारम्भ में सिद्ध को नमस्कार करने के कारण ही बारहखड़ी का नाम ही सिद्धमातृका अथवा सिद्धाक्षर समाम्नाय पड़ा। किन्तु, समय परिवर्तनशील है। साम्प्रदायिक भेद-भावों ने एक दूसरे के शब्दों को भी विकृत बनाया। न जाने कब बौद्ध का बुद्धू और भद्र का भद्दा हो गया। न जाने कब प्रियदर्शी को मूर्ख कहा जाने लगा। इसी प्रकार 'ओम् नमः सिद्धानाम्' जैसे प्रसिद्ध और प्रचलित मंगलपाठ को न जाने कब आगे चल कर 'ओनामासीधम्म् बाप पढ़े न हम्म' । के रूप में ध्वस्त कर दिया गया। किन्तु प्रारम्भ से हिन्दी के मध्यकाल में बहुत दूर तक यह प्रतिष्ठित रहा, यह एक प्रामाणिक सत्य है और इतना ही यहाँ अभीष्ट है। इसकी प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का एक कथन दृष्टव्य है, "ओनामासी धम्' वस्तुतः 'ओं नमः सिद्धम्' का विकृत उच्चारण है। पीछे कहीं-कहीं इसकी जगह ही कई जगहों में "रामागति/देहूमति" का प्रयोग होने लगा। कहीं-कहीं 'श्री गणेशाय-नमः' से भी अक्षरारम्भ कराया जाता रहा। 'सिद्धम्' में एक वचन का प्रयोग है,

१. छत्रचूड़ामणि, १/११२.
२. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, डा. ब्लूलर, पृष्ठ ६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह चौरासी सिद्धों के लिए नहीं है। यदि ऐसा होता तो 'ओम् नमः सिद्धेभ्यः' कहना पड़ता। यह ब्राह्मणों का भी प्रयोग नहीं है। ब्राह्मणों के त्रिदेवों को सिद्ध नहीं कहा जाता। बौद्ध और जैन ही अपने सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक को सिद्ध कहते हैं। इसलिए 'ॐ नमः सिद्धम्' अथवा 'ओनामासीधम्' का इतना व्यापक प्रयोग श्रमण धर्म के प्रभाव की व्यापकता को बतलाता है।"[१]

हिन्दी युग के प्रारम्भ में बालक को बारहखड़ी सिखाने के पहिले ओंकार का मंगलपाठ भी चल पड़ा था। जैन ग्रन्थों में इसके अनेक सूत्र पकड़े जा सकते हैं। रल्ह ने 'जिणदत्तचरिउ' में लिखा है कि जिणदत्त ने सर्वप्रथम अपने मन में ओंकार का ध्यान किया फिर विद्या पढ़ना आरम्भ की। रल्ह ने लिखा है—

"ओंकार लयउ मणु जाणि
लक्खणु छंदु तक्क परिवाणि।
मुणि व्याकरण विरति कउ जाणु
भरह रमायणु महापुराणु॥"[२]

अर्थ—सर्वप्रथम उसने ओंकार शब्द को मन में माना, अर्थात् ओंकार पर मन टिकाया। फिर, लक्षण, छन्द और तर्कशास्त्र को प्रमाणित किया—प्रामाणिक रूप से पढ़ा, पल्लवग्राही नहीं रहा। आगे व्याकरण, वैराग्यपरक कथाएँ, भरत (नाट्य-शास्त्र), रामायण और महापुराण पढ़े।

महावीर और बुद्ध ने लोकभाषा पर बल दिया। जैन उपाध्याय बालक का विद्यारम्भ लोकभाषा के स्वर-व्यंजनों से ही करते थे, 'अ, इ, उ, न्' से नहीं। उन्होंने बारहखड़ी विद्या का आविष्कार किया था, जो सहज थी और स्वाभाविक भी। उनके पढ़ाने का ढंग भी कष्टदायक नहीं था। बालक उसे आसानी से अवगम कर लेता था। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' में एक रूपक आया है। वन जाते समय राम को एक विशाल वट-वृक्ष दिखाई पड़ा और उसकी तुलना उन्होंने ग्रामीण उपाध्याय से की—

"गुरुवेसु करेवि सुन्दर सराहं
णं विहय पढावइ अक्खराइं
वुक्कण किसलय कक्का रवन्ति
वाउलि-विहंग किक्की भणन्ति
वन कुक्कुड़ु कुक्कू आयरन्ति
अण्णु विकलावि केक्कह चवन्ति
पियमाह वियड कौक्कड लवन्ति
कंका वप्पीह समुल्लवन्ति
सो तरवरु गुणगणदरसमाणु
फलवत्त वन्तु अक्खर खिहाणु॥"[३]

१. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध सिद्ध साहित्य (निबन्ध), सम्मेलन पत्रिका, भाग ५१, संख्या १, शक संवत् १८८७, पृष्ठ ४.
२. रल्ह, जिणदत्तचरिउ, शोध संस्थान, जयपुर, पद्य ६४ वाँ, पृष्ठ २६.
३. स्वयम्भू, पउमचरिउ, II, कड़वक १५, पृष्ठ ६०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—वट का वृक्ष गुरु का रूप धारण कर सुन्दर स्वर में अक्षरों को पढ़ा रहा था। पढ़ने वाले थे स्वयं उसके आश्रम में रहने वाले पक्षिगण। वुक्कड़ कक्का कह रहा था, वाउल किक्कि, मोर केक्कइ और प्रिय कोयल कोक्कह, पपीहा कुंका कह रहा था।

मैं इसे केवल रूपक ही नहीं मानता, अवश्य ही गाँव का उपाध्याय इन पक्षियों के माध्यम से वालकों को वारहखड़ी का ज्ञान कराता होगा। वह ज्ञान कितना क्रियात्मक, सहज और स्वाभाविक होगा, यह स्पष्ट ही है। आज का शिक्षा मनोविज्ञान ऐसे उपायों को वालकों के लिए रुचिकर मानता है। इनमें बालकों का मन लगता है और वे इसे सहज ही अवगम कर पाते हैं। दूसरी ओर, संस्कृत की 'अ इ उ न्' रटाने की कला थी, जो शुष्क थी और कष्टदायक भी। वह वालमस्तिष्क के समीप कभी नहीं रही। उसका जो परिणाम होना था, हुआ। सहस्रशः निरक्षरों के रूपमें भारत का नक्शा वदलता गया। वाल मन के सन्निकट होना ही शिक्षा प्रणाली का सवसे वड़ा गुण है। जैन उपाध्यायों ने उसे खोजा था, किन्तु साम्प्रदायिक विद्वेषों के कारण वह सार्वभौम न बन पाई। पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री उसे भारत लाये हैं और आज वह पनप रही है। उसे पश्चिम की देन ही कहा जाता है। हम वाहर को अपनाते हैं, भीतर को नहीं—अपने को नहीं।

जैन संघ होनहार वालकों को कम उम्र में दीक्षा देकर साधु बना देते थे। साधु वालक की शिक्षा संघ में ही प्रारंभ होती थी। उसका माध्यम भी वारहखड़ी ही थी—लोकभाषा के स्वर-व्यंजन। इस भाँति वह वालक शीघ्र व्युत्पन्न होकर वड़े-वड़े ग्रन्थों का पारायण कर पाता था। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री मेरुनन्दन उपाध्याय केवल सात वर्ष की आयु में दीक्षित हुए थे।[1] वे एक ओर श्रेष्ठ कवि वने तो दूसरी ओर दार्शनिक विद्वान्। इन विद्वानों के सिद्धान्त, तर्क और दर्शन के ग्रंथ भले ही संस्कृत में मिलते हों, किन्तु उन्होंने भावपरक काव्यरचना अपनी मातृभाषा में ही की। इसका कारण था कि उनके भाव उसी भाषा में अभिव्यक्त होने को अकुलाते थे, जिसमें उन्होंने अक्षरारम्भ किया था। ऐसे विद्वान् और अनुभूति-परक साधु वे होते थे, जिन्होंने पाँच से आठ वर्ष तक की आयु में दीक्षा ली थी।

वालक के विद्यारम्भ के लिए, पाँच वर्ष की आयु एक ऐसी आयु थी, जिसे जैन, बौद्ध और हिन्दुओं ने ही नहीं, अपितु मुस्लिम धर्म ने भी स्वीकार किया है। डॉ० आल्टेकर ने '**J. A. S. B, 1935, P. 249**' का उद्धरण देते हुए लिखा है[2]—"The Bismilla khani ceremony, which the Muslims performed in the 5th year, or to be more corrcet, on 4th day of the fourth month of the fifth year. It was performed

१. देखिए मेरा ग्रन्थ—हिन्दी जैनभक्ति काव्य और कवि, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृष्ठ ४२.
२. Dr. A. S. Altekar, Education in Ancient India, पृष्ठ २६६, पादटिप्पड़-२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

on this day in the case of Humanyun" इसका हिन्दी अर्थ है—मुस्लिम बालक के पाँचवें वर्ष के चौथे महीने में चौथे दिन बिस्मिल्ला ख़ानी (अक्षरारम्भ) महोत्सव करते हैं। हुमायूँ की तालीम इसी दिन शुरू हुई थी। जैन ग्रंथों में प्राय: पाँच वर्ष की आयु स्वीकार की गई है और ऐसा लगता है कि वह सार्वभौम थी। इसे लिपि-संस्कार कहते थे।

ब्राह्मी लिपि : विकास की ओर

ब्राह्मी लिपि शुद्ध भारतीय लिपि है अथवा किसी विदेशी लिपि से विकसित हुई है ? विद्वानों के मध्य यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है। इस पर बहुत कुछ ऊहापोह हुआ, तर्क-वितर्क चले, खण्डन-मण्डन की बाढ़ आई, किन्तु अन्त में यह सिद्ध हुआ कि यत्किञ्चित् साम्य के आधार पर किसी लिपि को एक दूसरे से निकला हुआ सिद्ध करना हलकापन है। ब्राह्मी लिपि के विदेशी जन्म की मान्यता का एक सबल आधार प्रस्तुत किया जाता रहा है कि—भारत में पाँचवीं सदी ईसवी पूर्व के नमूने नहीं मिलते। 'लिपि के नमूने' से उनका तात्पर्य था पुरातात्त्विक आधार। किन्तु पिपरावा, सोहग्रोरा, महास्थान और बड़ली की प्रौढ़ लेख प्रणाली (ईसा पूर्व ५०० वर्ष) से सिद्ध हो जाता है कि उससे भी पूर्व भारत में समुन्नत लेखन-कला थी, जिसका पुष्ट रूप पिपरावा आदि में दिखाई पड़ा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, यहाँ पुरातात्त्विक खुदाइयों पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। हो सकता है कि आगे कुछ और दिखाई पड़े। बड़ली के प्रौढ़ लेख की पूर्व कड़ियाँ अवश्य मिलेंगी, ऐसी संभावना है।

मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों ने बहुत-से विवादों को स्वत: शान्त होने को बाध्य किया है। इसका समय ईसा से ३००० वर्ष पूर्व माना जाता है। इसमें प्राप्त लिपि पूर्णरूप से भारतीय लिपि है। भले ही वह अभी न पढ़ी जा सकी हो, किन्तु वह एक लिपि है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। और फिर, डॉ. ब्लूलर का यह अभिमत कि इस देश में मिलने वाला प्राचीनतम अभिलेख ईसा-पूर्व छठी शताब्दी का है, इससे पूर्व नहीं, निराधार है।[1]

शोध-खोज की खींचतान में विद्वान् कभी-कभी अनर्गल भी लिख जाते हैं। एक ओर उनका यह कथन कि सिन्धुघाटी लिपि अभी पढ़ी नहीं जा सकी है और दूसरी ओर, डॉ. डिरिंजर का यह निश्चित मत कि यह लिपि अक्षरात्मक, भावात्मक अथवा दोनों के बीच की अनुवर्ती लिपि है और उससे अर्धवर्णात्मक ब्राह्मी लिपि नहीं निकल सकती,[2] कुछ परेशानियों में डाल देता है। जब वह

१. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, ब्लूलर, पृष्ठ १३, इसके उत्तर में देखिए 'भाषाविज्ञान कोश', डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ४१९–२०.

२. डॉ० डिरिंजर, 'दि अलफाबेट', उद्धृत 'हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास, डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ ५७१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिपि पढ़ी ही नहीं जा सकी, तो उसका कोई एक निश्चित रूप मान लेना, न्यायपूर्ण नहीं है।

दुनियाँ की प्रत्येक भाषा चित्रलिपि से निकली, ऐसा भाषाविदों का सर्वमान्य मत है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि विश्व की सभी भाषाएँ प्रारम्भ में आकृतिमूलक थीं। योगवासिष्ठ के एक श्लोक से सिद्ध है कि पहले लिपिकर्म में आकृतियाँ ही अंकित होती थीं—

"लिपिकर्मार्पिताकारा ध्यानासक्तधियश्च ते ।
अन्तस्थेनैव मनसा चिन्तयामासुरादृताः ।।"[१]

अर्थ—ध्यानावस्थित होने से वे लिपिकर्म में अंकित आकृतियों से निस्तब्ध होकर आदरपूर्वक अन्तःस्थित मन से चिन्तन करने लगे।

ऐसा ही, जैनग्रन्थ 'सहस्रनाम' में, 'लेखर्षभोऽनिलः' सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य श्रुतसागर ने लिखा है—"पुरा हि अनुमतां दिव्यानां देवानां विग्रहात्मिका रूपवर्णनरचना भित्तिषु लिखित्वैव क्रियते रमेति लेखः।"[२] इसका अर्थ है कि पहले अपने आराध्य दिव्य देवों की विग्रहात्मक रूपरचना भित्तियों पर की जाती थी, उसे लेख कहते थे।

ब्राह्मी लिपि भी चित्रलिपि से विकसित हुई, यह मानना असंगत नहीं है, किन्तु यह भी सच है कि वह चित्रलिपि भारत में मौजूद थी, अतः वह एक भारतीय लिपि थी, उसका निकास किसी अन्य विदेशी लिपि से मानना, भाषाविदों का चित्रलिपि वाला उद्गम स्थल गलत प्रमाणित करना है। और, उसे सही माना जा चुका है।

सिन्धुघाटी की सभ्यता विश्व-भर में एक समुन्नत सभ्यता थी, इस बात को इतिहासज्ञों ने एक स्वर से माना है। उसकी प्रत्येक बात समुन्नत थी—क्या वस्तुकला, क्या शिल्पकला, क्या चित्रकला और क्या मूर्त्तिकला। सिन्धुघाटी के लोग भौतिकरूप से समुन्नत थे तो आध्यात्मिक रूप से भी कम न थे। मोहन-जो-दरो और हड़प्पा में प्राप्त मूर्त्तियों की योगमुद्रा और ध्यानस्थ चेष्टा उनके अध्यात्मभाव की प्रतीक है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता प्रो. रामप्रसादजी चन्दा का कथन है, "Not only the seated deities Engraved on some of Indus seals are in yoga posture and bear witness to the prevalence of yoga in the Indus valley in that remote age, the standing deities on the seals also show kayotsarga posture of yoga. The kayotsarga posture is peculiarly Jaina."[3] इसका अर्थ है

१. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति०, ८६/३७.

२. जिनसहस्रनाम, 'लेखर्षभोऽनिलः' की श्रुतसागरीय व्याख्या.

3. Modern Review, August 1932, Page 155-160.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि सिन्धुघाटी में बैठी और खड़ी मूर्त्तियाँ कायोत्सर्गमुद्रा में हैं। उनका कायोत्सर्ग वाला ढंग विशेष कर जैनमूर्त्तियों में ही पाया जाता है। ईजिप्शियन और ग्रीक मूर्तियों में भी यह मुद्रा मिलती है, किन्तु वह वैराग्यभाव नहीं है, जो मोहन-जो-दरो की मूर्त्तियों में उपलब्ध होता है। यहाँ यह कहना अपेक्षित है कि सिन्धु-घाटी के वासी हर दृष्टि से इतने समुन्नत थें, तो लिपि के सन्दर्भ में कोरे रहे हों, माना नहीं जा सकता। मेरी दृष्टि में, उससे केवल भारत ही नहीं, अन्य अनेक देश भी अनुवर्ती बने हों, तो कुछ आश्चर्य नहीं है।

जहाँ तक सिन्धुघाटी लिपि और ब्राह्मीलिपि के वीच की कड़ियों का सम्बन्ध है, यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि—"यह बहुत सम्भव है कि आर्द्र जलवायु तथा नदियों की वाढ़ आदि के कारण पुरानी लिखित सामग्री नष्ट हो गई हो और विदेशी आक्रमण तथा आपसी संघर्षों ने बहुत कुछ महत्वपूर्ण ध्वंस कर दिया हो।"[1] इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि सहस्राधिक वर्ष के सतत विदेशी शासन ने हमारी अपनी संस्कृति और सभ्यता के अन्वेषण-उद्घाटन में कोई रुचि नहीं दिखाई। इसके विपरीत, उसके विलुप्त रखने में ही अपना कल्याण-समझा। वैसे, विलुप्त रहने की कथा वड़ी प्राचीन है। महाभारत के शांतिपर्व में एक श्लोक है—

> **"वर्णाश्चत्वार एते हि येषां ब्राह्मी सरस्वती।**
> **विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गताः॥"[2]**

अर्थ—पूर्व में (पहले) ब्रह्मा के द्वारा चार वर्णों की स्थापना की गई थी और जिनके लिए ब्राह्मी लिपि तथा सरस्वती विद्या की स्थापना की गई थी, वे लोभ के कारण अज्ञानता को प्राप्त हो गए।

यह है वह कड़ी जो सिन्धुघाटी और ब्राह्मी लिपि के वीच सेतुवन्ध थी। ब्राह्मी लिपि को एक भारतीय लिपि घोषित करने में साहित्यिक आधार भी नकारे नहीं जा सकते। उनका अपना मूल्य है। उनसे होकर सत्य पकड़ा जा सकता है, इसमें कोई संशय नहीं है। जैन और वौद्ध साहित्य में प्रौढ़ ब्राह्मी के उद्धरण हैं और उसके जन्म तथा विकास की कथा है। डॉ. डिरिंजर और वूलर आदि भी इस वात को मानते हैं। डॉ. डिरिंजर का अभिमत है, "छ: सौ ईसवी पूर्व उत्तरी भारत में ऐसी अद्भुत क्रान्ति हुई कि इसने भारतीय इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अक्षर ज्ञान ने जैन तथा वौद्ध धर्मों के प्रचार एवं प्रसार में विशेष सहायता दी होगी। जहाँ तक वौद्ध धर्म का सम्वन्ध है, यह निर्विवाद है कि इस युग में लिखने की कला का विशेष रूप से प्रचार हुआ।"[3] किन्तु, डॉ. वूलर का कथन

१. हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास, पृष्ठ ५७९ और भाषाविज्ञानकोश, पृष्ठ ४१५-२२.
२. महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, १२/१८१/१५.
३. डॉ० डिरिंजर, द अलफावेट, पृष्ठ ३२८-३३४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि बौद्ध आगमों की रचना से भी पूर्व लोग लेखन-कला से सुपरिचित थे और उनमें लेखन का पर्याप्त प्रचार था।[१] बौद्ध आगमों में एक कथा है कि एक बार बौद्ध भिक्षु भगवान् बुद्ध के पास यह पूछने गये कि हम किस भाषा में लिखें, तो उन्होंने स्पष्ट ही छन्दस् (वेदभाषा) में न लिखने का उपदेश दिया।[२] इसका अर्थ है कि छन्दस् में पहले से लिखने की परम्परा थी। विनय-पिटक (४०० ई. पूर्व के भी पूर्व-ओल्डनवर्ग के अनुसार) में लिखा है कि बुद्ध से पूर्व बाँस या लकड़ी की पट्टी पर शिष्यों के पालनार्थ नियम खोद कर देने की प्रथा थी।[3] इससे प्रमाणित है कि बुद्ध युग से पूर्व लेखन कला का यहाँ प्रचार था। जातकों में अनेक नियमों को स्वर्णपत्रों पर खुदवाने, व्यक्तिगत तथा सरकारी पत्र लिखने एवं ऋण लेने पर ऋण-पर्ण लिखे जाने के रूप में लेखनकला के उल्लेख हैं। ओझाजी के अनुसार जातकों में ईसवी पूर्व छठीं सदी या उसके पूर्व के समाज का चित्र है।[४] बौद्ध ग्रन्थ सुत्तन्त (सूत्रान्त) में एक 'अक्खरिका' का उल्लेख है, जो आकाश में या पीठ पर अक्षर लिखकर खेला जाता था।[५] रायस डेविड्स जातकों का समय ई. पूर्व ४५० और डॉ. राजबली पाण्डेय छठी सदी ईसवी पूर्व से भी पूर्व का मानते हैं।[६]

जहाँ तक जैन ग्रंथों का सम्वन्ध है, उनमें ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति आदितीर्थंकर ऋषभदेव और उनकी पुत्री ब्राह्मी से सम्बन्धित वताई गई है। ऋषभदेव श्रमण संस्कृति के आदि प्रतिष्ठापक थे। ऋग्वेद के एक सूक्त १०/१३६ में लिखा है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमण मुनियों के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से अवतार लिया था।[७] ऋग्वेद और अथर्ववेद में वातरशना, पिशंगा, वसतेमला और प्रकीर्णकेशी श्रमण मुनियों का एकाधिक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। गीता और श्रीमद्भागवत् में तो अनेकानेक प्रसंगों में उनके प्रशंसा-मूलक कथन हैं।[८] तात्पर्य है कि वेदों का जब निर्माण हुआ, जन-जन के मध्य ऋषभदेव पूज्य भाव को प्राप्त थे। इसका अर्थ यह भी है कि ब्राह्मी लिपि के जन्मदाता भगवान् ऋषभदेव वेद-युग से पूर्व-वर्त्ती हैं। डॉ. पी. सी. राय चौधरी ने उन्हें पाषाण युग के अन्त और कृषियुग के

---

१. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १६.
२. चुल्लवग्ग, ५/३३/१
3. Buddist India, Page 108.
4. Indian Palaeography by Dr. R.B. Pandey, P. 6-7.
५. सुत्तन्त—1,1.
६. हिन्दी भाषा, डा० भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ६८०.
७. डॉ० मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास, औपनिषद् धारा, पृष्ठ १८०.
८. वृहद् विवेचन के लिए देखिए मेरा ग्रन्थ—भरत और भारत, पृष्ठ, २८-३४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रारम्भ में माना है।[1] वास्तविकता यह है कि लिपि हीं की भाँति वे कृषि के भी प्रथम आविष्कारक थे। स्वयम्भू स्तोत्र की पंक्ति—"प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।"[2] इसी ओर इंगित करती है। इस भाँति ऋषभदेव के युग को हम ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व मान सकते हैं। डॉ. बूलर और विण्टरनित्स ने वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ ईसा से ४००० (चार हजार) वर्ष पूर्व माना है।[3] और, इसके पहले हुए ऋषभदेव, जिन्होंने पहला लिपिज्ञान अपनी पुत्री ब्राह्मी को दिया। ऋग्वेद के 'सहस्रम् मे ददतोऽष्टकर्ण्यः'[4] से स्पष्ट है कि उस समय के लोग संख्या का लिखना जानते थे। छान्दोग्योपनिषद् के—'हिंकार इति त्र्यक्षरं'[5] तथा तैत्तिरीय के—'वर्णः स्वरः मात्रा बलम्'[6] से तत्कालीन अक्षरज्ञान और उसके लिखने की बात प्रगट होती है।

ऋषभदेव ने अपने कामदेव से सुन्दर और कार्त्तिकेय-से महाबली पुत्र बाहुवलि को सिन्धुघाटी की तरफ का पूरा राज्य बँटवारे में दिया था। जैन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि 'भरत—बाहुवलि-युद्ध' के बाद, विजय प्राप्त करने वाले बाहुवलि के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने वीतरागी दीक्षा ले ली थी।[7] ऋषभदेवजी के सभी पुत्र-भरत हों या बाहुवलि, भौतिकता और आध्यात्मिकता के समन्वय स्थल पर खड़े थे। उन्होने भौतिक विकास को चरमोत्कर्ष दिया तो आध्यात्मिकता के तो प्रतीक ही बने। उन सब ने "विहाय यः सागरवारिवाससं, वधूमिवेमां वसुधां वधूं सतीम्। मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।।"[8] को अपने जीवन में ढाला था। अवशेषों में प्राप्त सिन्धुघाटी की सभ्यता इसी की उद्घोषक है। उसमें वैभव-सम्पन्नता के चिह्न हैं, तो नासाग्रध्यानस्थ योगियों के मूर्तिप्रतीक भी हैं। इस आधार पर मैं कहना चाहूँगा कि यह समूची सभ्यता ऋषभदेव और उनके पुत्र बाहुबलि की परम्परानुगत है। इसी कारण, यह बात सुनिश्चित रूप से कही जा सकती है कि सिन्धुघाटी की लिपि ब्राह्मी का पूर्वरूप थी।

डॉ. डिरिंजर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलफावेट' में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अनार्य अरमइक अक्षर ही ब्राह्मी के पूर्व रूप माने जा सकते हैं। उनका

---

1. Jainism in Bihar, P. 7, L. P.
२. स्वयम्भूस्तोत्र, १/२.
3. A History of Indian Literature, vol. I, P. 75
४. ऋग्वेद, १०, ७२, ७.
५. छान्दोग्योपनिषद्, २, १०.
६. तैत्तिरीय उपनिषद्, १, १.
७. शालिभद्र सूरि, भरतेश्वर-बाहुबलिरास, पद्य १८६, १९३.
८. स्वयम्भूस्तोत्र, १/३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुख्य आधार था कि ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व से छः सौ वर्ष पूर्व तक सेमेटिक (फोनेशिया) और आरमेनियन (दक्षिण अरबी) व्यापारियों ने सर्वप्रथम भारत से सम्पर्क स्थापित कर अक्षरों का यहाँ समावेश किया।[1] सेमेटिक और आरमेनियन दोनों पश्चिमी एशिया से सम्वन्धित हैं। डॉ. बूलर ने सेमेटिक से और डॉ. डिरिंजर ने आरमइक से ब्राह्मी की उत्पत्ति स्वीकार की है। दोनों में कोई भेद नहीं है। सेमेटिक में २२ (बाईस) व्यञ्जन हैं और आरमइक में अट्ठाईस। दोनों में अक्षरों का प्रारम्भ व्यञ्जन से होता है। दीर्घ-स्वर का नितान्त अभाव है। ब्राह्मी अक्षरों का प्रारम्भ स्वर से होता है, व्यञ्जन से नहीं। इसके अतिरिक्त व्यापार वाली बात और इन लोगों द्वारा भारत में अक्षर-प्रचलन की बात हास्यास्पद और अप्रामाणिक है। क्या यह नहीं हो सकता कि उन्होंने यहाँ आकर अक्षर ज्ञान किया हो। व्यापार दोनों तरफ का आदान-प्रदान है, अतः यह भी हो सकता है कि कुछ उन्होंने हमसे लिया हो और कुछ हमने उनसे लिया हो। किन्तु, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मी आरमइक अथवा सेमेटिक से निकली। शायद आदान-प्रदान के कारण ही दोनों में कुछ समानता है और ऐसी समानता अंग्रेजी और ब्राह्मी के कतिपय अक्षरों में भी पाई जाती है। यत्किञ्चित् समानता के आधार पर सिद्धान्त नहीं बनाये जा सकते।

डॉ. राजवली पाण्डेय की मान्यता है कि फोनेशीय लोग मूलतः भारतवासी थे। वे जब बाहर गये, तो यहाँ की लिपि साथ ले गये। वहाँ सामी लोगों के बीच रहते हुए उन्होंने एक ओर उत्तरी सामी और आरमइक को प्रभावित किया, तो दूसरी ओर इनकी अपनी लिपि में भी अन्तर आया।[2] ऐसी बात सम्भव तो है किन्तु अभी उसे सुदृढ़ प्रमाणों से प्रमाणित होना अवशिष्ट है।

दायें से बायें लिखने की बात जहाँ तक है, वह केवल पश्चिमी एशिया की लिपियों में थी। जब ईरानी शासकों का शासन काबुल तक फैला, तो दायें से बायें वाली बात भी आई। उससे खरोष्ठी प्रभावित हुई, ब्राह्मी नहीं। यह विचार कि ब्राह्मी पहले दायें से बायें लिखी जाती थी, भ्रमात्मक और अतथ्यात्मक है। एक शिलालेख और एक सिक्के के आधार पर डॉ. बूलर ने इतना बड़ा निर्णय ले डाला, आश्चर्यजनक है। अशोक के औगढ़ और धौली के लेखों में 'ओ' तथा देहली के सिवालिक स्तम्भों में 'ध' उलटा है।[3] कनिंघम को मध्यप्रदेश में एरण (जबलपुर) नाम के स्थान पर एक सिक्का मिला था, जिसका मुद्रालेख ब्राह्मी में होते हुए भी दायें से बायें लिखा गया है। डॉ. बूलर ने इस सिक्के को भी अपनी मान्यता के समर्थन में प्रस्तुत किया।[4]

1. The Alphabet, PP 328—334.
2. Indian Palaeography by Dr. R. B. Pandey, P. 47.
३. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ७२-७३.
४. डॉ० वासुदेव उपाध्याय, 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन', पृष्ठ २४६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनमें से प्रथम के सम्बन्ध में श्री ओझाजी का अभिमत है कि—"यह लेखक की असावधानी के कारण हुआ ज्ञात होता है। यह भी सम्भव है कि देश-भेद के कारण ऐसा हो गया हो। छठीं सदी के यशोधर्मन के लेख में तो 'उ' नागरी के 'उ'—सा मिलता है, किन्तु इसी सदी के 'गारुलिक सिंहादित्य' के दान पत्र में ठीक उसके उलटा। बंगला का 'च' भी पहले उलटा लिखा जाता था।"[१] अतः कतिपय उलटे अक्षरों के आधार पर पूरी लिपि की गति को उलटी मान लेना सुसंगत नहीं है। आन्ध्रवंश के राजा शातकर्णी के दो सिक्कों के लेख भी ठप्पे की गड़बड़ के कारण ही उलटे हो गये हैं। खरोष्ठी में भी ऐसा हुआ है। पार्थिअन सम्राट अब्दगसिस के एक सिक्के का खरोष्ठी का लेख उलट गया है, किन्तु इस आधार पर खरोष्ठी को बायें से दायें किसी ने नहीं कहा। कहा भी नहीं जा सकता।

बूलर के बाद मद्रास में यरगुड़ी स्थान पर अशोक का एक लघु शिलालेख प्राप्त हुआ है। उसकी एक पंक्ति दायें से बायें, तो दूसरी पंक्ति बायें से दायें लिखी मिलती है। इससे प्रतीत होता है कि लेखक एक नये प्रयोग की दृष्टि से अथवा खेलवाड़ की हाँस में ऐसा करता गया। इसलिए यह भी ब्राह्मी के दायें से बायें का कोई आधार नहीं बन सकता। वास्तविकता यह है कि अधिकांश लेख बायें से दायें मिलते हैं तो कतिपय के कारण यह क्यों माना जाये कि ब्राह्मी दायें से बायें लिखी जाती थी। इसी कारण निश्चिन्त होकर कहा जा सकता है कि सामी और आरमइक की मूलगति का ब्राह्मी से मेल नहीं खाता। गतियाँ भिन्न हैं। अतः एक दूसरे से प्रादुर्भूत हुई, इस सिद्धान्त को सकारा नहीं जा सकता। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. हुल्श और फ्लीट ने डॉ. बूलर के तर्कों को अर्थहीन मानते हुए ब्राह्मी को विशुद्ध भारतीय लिपि कहा है।[२]

प्रश्न यह है कि जब जैन साहित्य ब्राह्मी लिपि को सम्राट ऋषभदेव से उत्पन्न हुआ मानता है और ऋषभदेव पूर्ववैदिक थे, तो उसकी (जैन साहित्य की) लिखित सामग्री अधिक प्राचीन क्यों नहीं है? इसका कारण था कि धन, हाथी, घोड़ा, जमीन आदि की भाँति ही पुस्तक भी परिग्रह मानी जाती थी। कोई भी वीतरागी श्रमण अन्य वस्तुओं की भाँति उसे भी अपने पास नहीं रख सकता था। यदि रखता तो प्रायश्चित का भागी होता। जैन आचार्यों ने पुस्तक को एक चक्र माना, जिसमें फंसने पर हिंसा होती और परिग्रह भी बढ़ता, ऐसी मान्यता पनपने लगी थी। बाह्य छोड़ने से अन्तः सधता है, बात चल

१. भाषाविज्ञानकोश, पृष्ठ ४१५–४२२.
२. देखिए वही, पृष्ठ वही.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पड़ी थी। ऋषभदेव का कथन था कि अन्तः साधने से अन्तः सधता है, फिर वाह्य तो स्वतः छूट जाता है। छूटना ही मुख्य है, छोड़ना मुख्य नहीं है। वाह्य छोड़ने से वाह्य छूट जायेगा, किन्तु अन्तः सधेगा ही, निश्चित नहीं है। पुस्तक वाह्य परिग्रह है, किन्तु उसके न रखने से कोई अपरिग्रही हो जायेगा, कहना गलत है। परिग्रह और अपरिग्रह चित्त की दशा है, पुस्तक की नहीं। ऋषभदेव के इस जीवन दर्शन को लोग भूल गये। केवल वाह्य को छोड़ने वाली बात रह गई और उसमें पुस्तक भी आ गई। मान्यता जो कुछ वनी-विगड़ी हो, गलत फहमी जी चाहे वैसे आई हो, किन्तु पुस्तक रखना पाप माना जाता था। शायद इसी कारण उसका लेखन भी नहीं होता था।

जैनाचार्यों ने पुस्तक को श्रुत कहा है। श्रुत शब्द 'श्रुश्रवणे' से वना। उसका अर्थ है—सुना हुआ। वैदिक परम्परा में केवल वेदों की ऋचाओं को श्रुति कहा गया, अन्य को नहीं। किन्तु, जैन परम्परा सभी शास्त्रों को श्रुत संज्ञा से अभिहित करती है। वहाँ श्रुत एक ज्ञान है। ज्ञान रूप श्रुत को 'भाव श्रुत' कहा गया है। वह आत्मगुण होने के कारण सदैव अमूर्त्त होता है। उसे प्रकाशित करने का निमित्त कारण शब्द है, अतः वह भी निमित्त-नैमित्तिक के कथंचिद् अभेद की अपेक्षा से श्रुत कहलाता है। शब्द मूर्त्त होता है, अतः उसे द्रव्यश्रुत कहा गया है। इस भाँति श्रुत के दो भेद हुए—भावश्रुत और द्रव्यश्रुत। भावश्रुत के जितने भी निमित्त हैं, चाहे वे शब्द हों, चाहे लिपि हो, चाहे संकेत हो, चाहे चेष्टा हो-सभी कुछ द्रव्य श्रुत कहलाते हैं। शब्दरूप होने के कारण पुस्तक द्रव्यश्रुत है।

इस संदर्भ को लेकर जैनग्रंथों में एक मनोरञ्जक चर्चा का उल्लेख मिलता है। एक प्रश्न है कि संकेत और चेष्टाएँ, जो सुनाई नहीं देतीं, श्रुत हैं या नहीं ? भाष्यकार जिनदासगणि क्षमाश्रमण ने, वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र ने 'आवश्यक वृत्ति' में तथा आचार्य मलयगिरि ने 'नन्दिवृत्ति' में श्रुत को यौगिक शब्द मानते हुए स्पष्ट निर्देश किया है कि—श्रुत वही है, जो सुनने योग्य हो, अन्य नहीं। जो चेष्टाएँ सुनाई न देतीं हों, उन्हें श्रुत नहीं कहना चाहिए। किन्तु, आचार्य भट्टाकलंक ने 'तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक' में लिखा है—'श्रुत शब्दोऽयं रूढ शब्दः इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्त्वसिद्धिर्भवति।" अर्थात् श्रुत शब्द रूढ़ है। श्रुत ज्ञान में किसी भी प्रकार का मतिज्ञान कारण हो सकता है। इसके अनुसार केवल सुना गया ही नहीं, अपितु देखा गया भी—संकेत अथवा चेष्टा श्रुतज्ञान की कोटि में आते हैं।[1]

---

१. देखिए इसी ग्रन्थ का प्रथम अध्याय—'लिपिः व्युत्पत्ति और विश्लेषण'.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अष्टादश प्रकारा ब्राह्मी लिपि :

विश्व नाना रूपात्मक है। उसमें अनेक धर्म हैं, अनेक रूप हैं और अनेक भाषाएँ है। आज से नहीं अनादि काल से ऐसा चला आ रहा है। अर्थर्ववेद में एक स्थान पर लिखा मिलता है—

"जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं।
नाना धर्माणं पृथिवी यथैकसम् ।।"[१]

अर्थ—पृथ्वी बहुत-से जनों को धारण करती है, जो पृथक धर्मों के मानने वाले और भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले हैं।

अथर्ववेद से पूर्व, ऋषभदेव के समय में भी—'एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा:'[२] और 'अनेक भाषा जगती प्रसिद्धा:'[३] से अनेक भाषाओं के अस्तित्व का प्रतिभास होता है। भाषा और लिपि का गहरा सम्बन्ध है। यदि भाषाएँ अनेक थीं तो लिपियाँ भी अनेक थीं। एकाधिक जैन ग्रन्थों में अनेक लिपियों के अस्तित्त्व का उल्लेख मिलता है। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों का बोध कराया था। पुत्री ब्राह्मी को सिखाये जाने के कारण वे सब लिपियाँ ब्राह्मी संज्ञा से अभिहित हुईं। भगवती सूत्र में एक स्थान पर लिखा है—"लिपि: पुस्तकाऽऽदावक्षरविन्यास: सा चाऽष्टादशप्रकाराऽपि श्री मन्नाभेयजिनेन स्वसुताया ब्राह्मीनामिका या दर्शिता, ततो ब्राह्मीत्यमिधीयते।"[४] इसका अर्थ है कि नाभेयजिन—ऋषभदेव ने अठारह प्रकार की लिपियाँ अपनी ब्राह्मी नाम की पुत्री को सिखाईं, अत: उन्हें ब्राह्मी अभिधान से पुकारा गया। जैन-ग्रन्थ 'समवायांग सूत्र' और 'पण्णवणासूत्र' में भी अठारह लिपियों का उल्लेख मिलता है। वहाँ यह भी लिखा है कि ये लिपियाँ ऋषभदेव ने ब्राह्मी को

---

१. अथर्ववेद, १२/१/४५. मिलाइए—'पाणिनिकालीन भारतवर्ष', पृष्ठ ४२९.

२. "एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा:
सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषा:।
अप्रतिमत्तिमपास्य च तत्त्वं
बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ।।"

महापुराण, २३/७०.

३. "अनेक भाषा जगती प्रसिद्धा:
परन्तु दिव्यो ध्वनिरर्हतो वै।
एवं निरूप्यात्मनि तत्त्वबुद्धि
अभ्यर्चयामो जिन दिव्यवादम् ।।"

प्रतिष्ठापाठ—५४२.

४. भगवतीसूत्र १, श० १, उ.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिखाई थीं।[१] तिलोयपण्णत्ति प्राकृत का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें यतिवृष-भाचार्य ने भारत का वर्णन करते हुए लिखा है—

"णाणा जणवदणिहिदो अट्ठारसदेसभाससंजुत्तो ।
कुंजरतुरगादिजुदो णर-णारी मण्डितो रम्मो ।।"[२]

अर्थ—भारतवर्ष नाना जनपदयुक्त, अट्ठारहदेश भाषा संयुक्त, कुंजरतुरगादि-युक्त और नर-नारियों से मण्डित सुन्दर देश है। यतिवृषभ ने एक दूसरे स्थान पर इन अठारह देशभाषाओं को महाभाषा की संज्ञा दी है। इनके अतिरिक्त सात सौ के लगभग लघुभाषाएँ थीं। आगे चलकर इसी को एक हिन्दी कवि ने—"दशअष्टमहाभाषा समेत। लघुभाषासात शतकसुचेत ।।" के रूप में व्यक्त किया। इस प्रसंग में श्री रामधारीसिंह दिनकर के प्रसिद्ध ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा मिलता है, "दक्षिण भारत में प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार ब्राह्मी ऋषभदेव की बड़ी पुत्री थी। ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियों का प्रचार किया, जिनमें से एक लिपि कन्नड़ हुई।"[३]

गुजरात के महाराज सिद्धराज और राजर्षि कुमारपाल के समय में आचार्य हेमचन्द्र का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध था। उन्होंने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की तो 'त्रिषष्ठिशलाकामहापुरुषचरित' की भी। वे अपने समय के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री और भारतीय संस्कृति तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने ब्राह्मी लिपि के सन्दर्भ में अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। उनका कथन है कि ऋषभदेव ने अठारह प्रकार की लिपियाँ ब्राह्मी को सिखाई थीं। उन्होंने लिखा है—

"अष्टादशलिपि ब्राह्मया अपसव्येन पाणिना ।
दर्शयामास सव्येन सुन्दर्या गणितं पुनः ।।"[४]

अर्थ—तीर्थंकर ऋषभदेव ने ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह लिपियों की और सुन्दरी को वायें हाथ से गणित की शिक्षा दी।

जैनों में 'शत्रुञ्जय काव्य' का माहात्म्य बहुत अधिक है। डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने संस्कृत काव्य के विकास में 'शत्रुञ्जयकाव्य' का योगदान स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उसमें एक स्थान पर लिखा है—

"अष्टादशलिपीर्नाथो, दर्शयामास पाणिना ।
अपसव्येन स ब्राह्मया ज्योतिरूपा जगद्धिता ।।"[५]

शत्रुञ्जयकाव्य ३।१३१

---

१. समवायांगसूत्र—अध्याय १८.
२. तिलोयपण्णत्ति, ४/२२६७.
३. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४.
४. आचार्य हेमचन्द्र, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, १/२/९६३.
५. 'संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान', पृष्ठ ५६१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका अर्थ है कि नाथ-वृषभनाथ ने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान कराया।

इसी सन्दर्भ में 'पण्णवणासुत्त' का एक उद्धरण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें लिखा है—"से किं तं भासारिया। भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासंति। जत्थ वि य णं वंभी लिवि पवत्तइ।।"[1] अर्थात् भाषा के अनुसार आर्य लोग वे हैं, जो अर्द्धमागधी भाषा में वार्तालाप करते हैं, लिखते-पढ़ते हैं और जिनमें ब्राह्मी लिपि का व्यवहार होता है। अर्द्धमागधी एक प्राकृत भाषा थी, जिसमें भारत की अठारह भाषाओं का सम्मिश्रण था। प्रसिद्ध आचार्य श्रुतसागर सूरि ने 'तत्त्वार्थ वृत्ति' में लिखा है—"सर्वार्ध मागधीया भाषा भवति। कोऽर्थः? अर्द्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं अर्द्धं च सर्वभाषात्मकम्।"[2] अर्थात् अर्द्धमागधी वह है, जिसमें आधे शब्द मगधदेश की भाषा के और आधे शब्द भारत की सब भाषाओं के हों। सातवीं शताब्दी के समर्थ चूर्णिकार गणि जिनदासमहत्तर ने अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में लिखा है—"मगहद्ध विसयभासानिवद्धं अठ्ठारसदेसी भासाणियतं अद्धमागहं।"[3] इसका अर्थ है कि अर्द्धमागधी वह है जिसका अर्द्धभाग मागधी का और अर्द्धभाग अठारह देसी भाषाओं से बना हो। जैसे—यदि उसमें सौ शब्द मान लें तो पचास मागधी के और पचास अठारह देसी भाषाओं के होने चाहिये। ऐसी ही भाषा में भगवान् महावीर अपना उपदेश देते थे। यह ही कारण था कि प्रत्येक व्यक्ति उसे समझ जाता था। समवायांगसुत्त में लिखा है—

"भगवं च ण अद्धमागही ए भासाए धम्मं आइक्खइ। सा वि य णं अद्ध-मागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियं-अणारियाणं दुप्पय-चौप्प यमियपसुपक्खिसरीसिवाणं अप्पणो हियसिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ।"[4] अर्थात् भगवान् यह धर्म (जैन धर्म) अर्द्धमागधी भाषा में प्रचारित करते हैं और यह अर्द्धमागधी भाषा जब बोली जाती है तब आर्य और अनार्य, द्विपाद और चतुष्पाद, वन्य और ग्राम्य, पशु-पक्षी और सरीसृप (रिंगणशील सर्प आदि) सब प्रकार के कीटादि इसी में बोलते हैं, और यह सब का हित करती है, उनका कल्याण करती है और उन्हें सुख देती है।

अब प्रश्न यह है कि वे १८ भाषाएँ-लिपियाँ कौन-कौन-सी थीं? अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग पंचम्, पृष्ठ १२८४ पर, कल्पसूत्र, भगवती सूत्र और आवश्यक-चूर्णि आदि ग्रन्थों के साहाय्य से ब्राह्मी और अन्य लिपियों का 'लिपि-भेद' के नाम से विवेचन हुआ है। वहाँ १८ लिपियों का नामोल्लेख है—

---

१. पण्णवणासुत्त—५६.

२. षट्प्राभृतटीका, पृष्ठ ९९.

३. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका, गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, पृष्ठ २६८..

४. समवायांगसुत्त—९८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"बंभीए ण लिवीए अठ्ठारसविहे लेक्खविहाणे पणत्ते । तंजहा—बंभी, जवणालिया, देसऊरिया, वरोदृिया, खरसाविया, महाराइया, उच्चत्तरिया, अक्खर-पुत्थिया, भोगवयत्ता, वेयणतिया, णिण्हइया, अंकलिवि, गणिअलिवि, गंधव्वलिवि, आदस्सलिवि, माहेसरलिवि, दामिलिवि, वोलिंदिलिवि ।"[1]

'समवायांगसूत्र' में भी लिपि के भेद दिये हैं। उसमें ब्राह्मी के अतिरिक्त और अठ्ठारह लिपियों का नामोल्लेख हुआ है। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि ये अठारह लिपियाँ ब्राह्मी के विभिन्न प्रकार हैं। वे इस भाँति हैं—१. यावनी, २. दोषोपकारिका, ३. खरोष्ट्रिका, ४. खरश्राविता, ५. पकारादिका, ६. उच्चत्तरिका, ७. अक्षरपृष्ठिका, ८. भोगवतिका, ९. वैणयिका, १०. निन्हविका, ११. अंकलिपि, १२. गणितिलिपि, १३. गन्धर्वलिपि, १४. भूतलिपि, १५. आदर्शलिपि, १६. माहेश्वरीलिपि, १७. द्राविडलिपि, १८. पुलिंदलिपि.[2] विशेषावश्यक भाष्य की टीका में जिन १८ लिपियों का नामोल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं—हंस, भूत, यक्षी, राक्षसी, उड्डी, यवनी, तुरुक्की, कीरी, द्राविड़ी, सिंधवीय, मालवी, नटी, नागरी, लाट, पारसी, अनिमित्ती, चाणक्यी, और मूलदेवी ।[3]

समवायांगसूत्र की लिपियों में 'भूतलिपि' अधिक है। वैसे, इन सभी लिपियों का रूप-विवेचन उपर्युक्त प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। फिर भी, जहाँ तक यावनी का सम्वन्ध है, वह यवनानी अर्थात् यूनानी लिपि है। निश्चित रूप से यह भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में वोली जाती थी। ईसा से चौथी शताव्दी पूर्व सम्राट सिकन्दर का भारत के इस भाग पर आक्रमण हुआ था। तभी से यूनानी किसी-न-किसी रूप में वहाँ रहते रहे। उनकी लिपि का भी प्रचार हुआ। एरिअन ने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में सिकन्दर के सेनापति निआर्कस (३२६ ई. पू.) द्वारा लिखित भारत का वृत्तान्त संक्षेप में दिया है। उससे स्पष्ट है कि यहाँ पहले से ही ब्राह्मी लिपि थी, किन्तु यूनानियों के वसने और उनके राजशासन के बाद यूनानी लिपि छा गई होगी, ऐसी सम्भावना वहाँ पाये गये प्रभावों से पुष्ट हो जाती है। डा. रघुवीर ने अपनी शोध-खोजों के आधार पर कहा था कि चीन की दीवाल के इस ओर बने एक बौद्धमठ में और तक्षशिला विश्वविद्यालय में, वाहर जाने वाले यात्रियों को 'सम्वन्धित भाषाओं और

१. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग पंचम्, पृष्ठ १२८४.

२. समवायांग सूत्र—अध्याय १८.

३. विशेषावश्यक भाष्य की टीका, [पृष्ठ ४६४. इसके अतिरिक्त १८ लिपियों के लिए लावण्यसमयगणि का विमल प्रवन्ध, लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय की 'कल्पसूत्रटीका', मुनि पुण्यविजय-भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला (पृ० ६) तथा श्री अगरचन्द नाहटा का 'जैन आगमों में उल्लिखित भारतीय लिपियाँ एवं इच्छालिपि, (ना० प्र० प०, वर्ष ५७, अंक ४) देखे जा सकते हैं।]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिपियों' का ज्ञान कराया जाता था। उनके अनुसार तक्षशिला में यूनानी भाषा और लिपि के विधिवत् अध्ययन की व्यवस्था थी। डा. वासुदेव उपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन' में लिखा है कि 'यवनानी का प्रयोग उत्तर-पश्चिम भारत (वर्त्तमान पश्चिमी पाकिस्तान) में होता था।"[१]

ब्राह्मी के बाद, भारतीय अभिलेखों में खरोष्ठी का ही अधिक प्रयोग मिलता है। अशोक के दो शिलालेख–मनसेरा तथा शाहवाजगढ़ी (उत्तर-पश्चिम भारत पाकिस्तान) खरोष्ठी में लिखे मिलते हैं। ईरानी राजाओं ने उत्तर-पश्चिमी भारत वहुत पहले जीत लिया था। उनके शासन लेख अथवा मुद्रा लेखों में खरोष्ठी का ही प्रयोग किया गया। मौर्यकाल के पश्चात् यूनानी शासकों ने (१७५ ई. पू.) भी खरोष्ठी का प्रयोग किया। उधर के भारतीय सम्राट तुंवर मिलिन्द के मुद्रालेख खरोष्ठी में ही मिलते हैं। खरोष्ठी का प्रसार मध्य एशिया में हुआ था। वहाँ के शासन-लेख खरोष्ठी में प्राप्त हुए हैं। खोतान में यही लिपि खोतानी और तुषार में तोखारी के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह दायें से वायें लिखी जाती थी। विद्वान लोग इसकी उत्पत्ति उत्तरी सामी और आरमेनियन लिपियों से मानते हैं।[२]

खर श्राविता का शाब्दिक अर्थ है कि जो सुनने में कठोर हो। इस अनुमान के अतिरिक्त, इस लिपि के सम्बन्ध में और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार पकारादिका, जिसे प्राकृत में पहाराइआ अथवा पआराइआ कहते हैं, पकार से प्रारम्भ होने वाली लिपि मानी जा सकती है। वह यहाँ के किसी भूभाग की जाति विशेष में प्रचलित रही होगी। शायद सांकेतिक लिपि का नाम निन्हविका था। यह कतिपय विशेष संकेतों से बनी लिपि होगी। अंक और गणित लिपियाँ नाम से ही स्पष्ट हैं। गान्धर्व, भूत (भोट), आदर्श (देव), माहेश्वरी, द्राविड़ और पुलिंद लिपियाँ तद्तद् जातियों की लिपियाँ थीं। हो सकता है कि आज की काश्मीरी, भोटानी, पहाड़ी, मुड़िया, दक्षिणी और आदिवासी जातियों की भाषाओं के लिए ये लिपियाँ प्रचलित रही हों। एक पैशाची प्राकृत थी, जिसमें गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की थी। आगे चलकर यह ग्रन्थ विलुप्त हो गया। उसका संस्कृत रूपान्तर मिलता है। पैशाची प्राकृत एक भाषा थी। वह भूतलिपि में लिखी गई हो, असम्भव नहीं है।

बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में चौंसठ लिपियों का नामोल्लेख हुआ है। वे नाम इस प्रकार हैं—ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारी, अंगलिपि, वंगलिपि, मगध-

---

१. 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन', पृष्ठ २४४.

२. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ २४५, २४६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिपि, मांगल्यलिपि, मनुष्यलिपि, अंगुलीयलिपि, शकारि लिपि, ब्रह्मवल्ली लिपि, द्राविड़ लिपि, कनारि लिपि, दक्षिणि लिपि, उग्रलिपि, संख्यालिपि, अनुलोम-लिपि, ऊर्ध्वधनुर्लिपि, दरद लिपि, खास्य लिपि, चीन लिधि, हूण लिपि, मध्याक्षर-विस्तर लिपि, पुष्पलिपि, देवलिपि, नागलिपि, यक्षलिपि, गन्धर्व लिपि, किन्नरलिपि, महोरग लिपि, असुर लिपि, गरुड लिपि, मृगचक्र लिपि, चक्र लिपि, वायुमरु लिपि, भौमदेव लिपि, अन्तरिक्षदेव लिपि, उत्तर कुरुद्वीप लिपि, अपर गौडादि लिपि, पूर्वविदेह लिपि, उत्क्षेप लिपि, निक्षेप लिपि, विक्षेप लिपि, प्रक्षेप लिपि, सागर लिपि, वज्रलिपि, लेख-प्रतिलेख लिपि, अनद्रतलिपि, शास्त्रावर्तलिपि, गणावर्त लिपि, उत्क्षेपावर्त लिपि, विक्षेपावर्त लिपि, पादलिखित लिपि, द्विरुत्तरपद सन्धि लिखितलिपि, दशोत्तरपद सिन्धिलिखित लिपि, अध्याहारिणी लिपि, सर्वरुत्संग्रहणी-लिपि, विद्यानुलोम लिगि, विमिश्रित लिपि, ऋषितपस्तप्त लिपि, धरणी प्रेक्षणो लिपि, सर्वौषधनिष्यनन्दलिपि, सर्वसार संग्रहर्णा लिपि, सर्वभूतरुद्रग्रहणी लिपि।"[१]

इन उपर्युक्त लिपियों के नामों से ऐसा लगता है कि वे प्राचीन भारत की विभिन्न जातियों और देशों से सम्बन्धित थीं। इनमें अन्तिम कतिपय गणित, वैद्यक, मंत्र, रसायन आदि विद्याओं के पारिभाषिक शब्दों से युक्त थीं। डॉ. भोलानाथ तिवारी का यह कथन कि—"इसमें ब्राह्मी और खरोष्ठी—इन दो का ही आज पता है। अन्यों में अधिकतर नाम कदाचित् कल्पित हैं।"[२] ठीक प्रतीत नहीं होता। अन्यों को कल्पित मान लेना अनुपयुक्त है। नामों की आधारभूमि थी, यह स्पष्ट ही है। केवल ब्राह्मी और खरोष्ठी ही नहीं, अन्य लिपियों में भी कई आज उपलब्ध हैं। क्या संख्या और गणित लिपि आज नहीं हैं? क्या द्राविड़, यूनानी और दक्षिणी लिपियाँ आज नहीं हैं? तत्कालीन देश और जातियों से सम्बन्धित ये नाम आधारभूत थे, निराधार नहीं, कल्पित नहीं। जैन और बौद्ध सूचियों में कई नाम समान हैं।

डा. बूलर का कथन है कि[३]—जैन और बौद्ध सूची के आधार पर ब्राह्मी के अतिरिक्त चार और नाम ऐसे हैं, जिनकी पहचान ज्ञात लिपियों से की जा सकती है। एक है दायीं से बायीं ओर लिखी जाने वाली खरोष्ठी अथवा

---

१. ललितविस्तर, १०, १२५, १६. इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में डॉ० राजबली पाण्डेय का अभिमत है, "It is a work written in Sanskrit and deals with the biography of Lord Buddha. It is not possible to fix its date exactly. But as it was translated in the chinese in 308 A.D., it must belong to a time atleast one or two centuries Earlier.

—Indian Palaeography, p. 24. quotation-I.

२. 'हिन्दी भाषा', डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ६८२.

३. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ४-५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खरोट्टी, जिसे विद्वानों ने पहले बैक्टीरियन, इण्डोबैक्टीरियन, बैक्ट्रोपालि, ऐरियानो पालि आदि नामों से अभिहित किया था। दूसरी है द्राविड़ी या डामिली। शायद यह ब्राह्मी का ही एक स्वतन्त्र भेद है। इसका पता भट्टप्रोलु के स्तूप से प्राप्त धातुपात्रों से लगा है। तीसरी है पुष्करसारि या पुक्खरसारिया। पाणिनि, आपस्तम्ब धर्मसूत्र और अन्य ग्रन्थों में इस नाम के एक या अनेक धर्मशास्त्रियों और वैय्याकरणों का उल्लेख है। असम्भव नहीं कि पुष्कर सद् वंश के किसी व्यक्ति ने किसी नई लिपि का सृजन किया हो अथवा किसी प्रचलित लिपि का संस्कार कर नया नाम दिया हो। चौथी है--यवणालिया, जिसे पाणिनि ने यवनानी कहा है। यह एक यूनानी लिपि थी। डा. बूलर का अभिमत है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व उत्तर-पश्चिमी भारत में यूनानी वर्णमाला का प्रयोग होता था। उन्होंने प्रमाण स्वरूप कुछ ऐसे सिक्कों की बात की है, जो सिकन्दर से पहले के हैं और उस प्रदेश में प्राप्त हुए हैं। उन पर यूनानी लिपि में अभिलेख हैं। उनकी रचना यूनानी एटिक द्राम की अनुकृति पर है। बूलर ने ई. पू. ५०९ में स्काईलैक्स के उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण के समय से ही यहाँ पर यूनानी लिपि के प्रचार की बात स्वीकार की है।

इस प्रकार बूलर बम्भी, खरोट्टी, दामि (द्राविड़ी), पुक्खरसारिया और जवणालिया (यूनानी) को भारत की ऐतिहासिक लिपियाँ स्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में वे जैन सूची को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका कथन है, "अभिलेख शास्त्र, पाणिनि तथा स्वतन्त्र उत्तरी बौद्ध परम्पराओं की साक्षी से यह सिद्ध होता है कि जैनों की सूची में जिन लिपियों की गणना है, उनमें कुछ तो निश्चय ही प्राचीन हैं और उनका पर्याप्त ऐतिहासिक मूल्य है। इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि ई. पू. ३०० में भारत में अनेक लिपियाँ ज्ञात या प्रचलित थीं।"[१]

प्रसारोन्मुखा ब्राह्मी

भारत की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं, ऐसा बड़े-बड़े विद्वानों का अभिमत है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के सम्पादन में प्रकाशित 'गंगा' के पुरातत्त्वांक में लिखा है, "एक ब्राह्मी लिपि को अगर विद्यार्थी अच्छी तरह सीख जाये तो वह अन्य लिपियों को थोड़े ही परिश्रम से सीख सकता है और शिलालेख आदि को भी कुछ कुछ पढ़ सकता है, क्योंकि सारी लिपियाँ ब्राह्मी से ही उद्भूत हुई है।"[२] डा. रामधारीसिंह 'दिनकर' का कथन है कि "द्राविड़

१. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ५.
२. गंगा, पुरातत्त्वविशेषांक—देखिए साहित्याचार्य मग का लेख—भारतीयों का लिपिज्ञान, सन् १९३३ ई०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से ही निकली हैं। ब्राह्मी का ज्ञान अशोक के समय दक्षिण भारत में भी प्रचलित रहा होगा, अन्यथा अशोक ने अपने अभिलेख, दक्षिण में भी, ब्राह्मी में ही नहीं खुदवाये होते।"[१] श्री सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ ने ब्राह्मी लिपि का प्रसार सिंहल, बर्मा और सुदूर जावा तक माना है। 'कन्नड़ साहित्य का नवीन इतिहास' नाम के अपने ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है, "ब्राह्मी लिपि की वही शाखा, जिससे कन्नड़ लिपि निकली है, दक्षिण में सिंहल तथा पूर्व में सुदूर जावा तक जा पहुँची है। अतः सिंहल तथा बर्मा आदि की लिपियाँ कन्नड़ तथा तेलगु लिपि से मिलती-जुलती हैं। तमिल लिपि ब्राह्मी लिपि की एक दूसरी शाखा से निकली है, अतः कन्नड़ और तेलगु लिपि से भिन्न है। यों तो ब्राह्मीलिपि से निकली होने के कारण भारत की तथा एशिया की अन्य सभी लिपियों में कुछ समानताएँ हैं।"[२]

ब्राह्मी लिपि भारत के सभी भागों और भारत के बाहर सुदूर तक प्रसृत थी। इस कार्य में यायावर श्रमण जैन मुनियों का महत्वपूर्ण योगदान था। 'एन इन्ट्रोडक्शन टु जैनिज्म' नाम के ग्रन्थ में लिखा है कि कृषियुग के प्रारम्भ से लेकर सिकन्दर के समय तक तक्षशिला में जैनमुनियों का निर्बाध विचरण था, इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता।[3] महाराज सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था। उसने जैनधर्म के प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया और देश-विदेश में जैन साधुओं को भी धर्म प्रचार के लिए भेजा।[४] बौद्ध महावंश के 'तं दिस्वान पलायंत्त निगण्ठो गिरिनायको' से स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा सम्प्रति के समय में सीलोन (लंका) में भी दिगम्बर मुनियों ने धर्म प्रचार किया था। श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने 'हिन्दी विश्वकोष' में लिखा है, "तिब्बत हिमिन मठ में रूसी पर्यटक नोटोविच ने एक पाली भाषा का ग्रन्थ प्राप्त किया था। उसमें लिखा है कि ईसा भारत तथा भोट देश में आकर अज्ञात-वास में रहा था और उसने जैन-साधुओं के साथ साक्षात्कार किया था।"[५] प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं. सुन्दरलाल का अभिमत है कि जैन सन्त-महात्मा विभिन्न देशों में जा-जाकर बसे थे और धर्म प्रचार किया था। उन्होंने 'हजरत ईसा और ईसाई-धर्म' नाम के ग्रन्थ में लिखा है, "उस जमाने की तवारीख से

---

१. 'संस्कृति के चार अध्याय', पृष्ठ ४४.

२. 'कन्नड़ साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६.

३. मिलाइए–Kausambi D. D., 'An Introduction to the study of Indian History', Bombay, 1952, p. 180.

और

'The life of the Buddha, E. I. Thomas, 1927, p. 157.

४. 'भारत का इतिहास', सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० २१८.

५. हिन्दी विश्वकोष, भाग ३, श्री नगेन्द्रनाथ वसु, पृष्ठ १२८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पता चलता है कि पश्चिमी एशिया, यूनान, मिश्र और इथियोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों हजारों जैन सन्त महात्मा जा-जाकर जगह-जगह बसे हुए थे। ये लोग वहाँ बिल्कुल साधुओं की तरह रहते और अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए मशहूर थे।"[1] विद्वान अशोक को बौद्ध कहते हैं, किन्तु सत्य यह है कि अशोक को जैन धर्म और बौद्ध धर्म में इतना कम भेद दीखता था कि उसने सर्व-साधारण में अपना बौद्ध होना अपने राज्य के बारहवें वर्ष (ई. पू. २४७ वर्ष) में स्वीकार किया था। उसके कई शिलालेख जैन सम्राट के रूप में मिलते हैं।[2] अबुलफजल ने 'आइने अकबरी' में लिखा है कि अशोक ने काश्मीर में जैन धर्म का प्रचार किया था। अनेक जैन साधु वहाँ बस गये थे।[3]

प्राचीनकाल से ही घुमक्कड़ जैन साधु विदेशों में जाते रहे हैं। उन्होंने वहाँ के धर्म और संस्कृति को ही नहीं, अपितु भाषा और लिपि को भी सतत् प्रभावित किया। वे प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि के धनी थे। उनकी अभिव्यक्ति के ये ही साधन थे। डा. राजबली पाण्डेय का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि आरमेनियन आदि लिपियां ब्राह्मी से प्रभावित हुई, ब्राह्मी उनसे नहीं।[4] डा. उदयनारायण तिवारी ने 'हिन्दी भाषा: उद्गम और विकास' में लिखा है, "भारतीय संस्कृति की प्रतीक-स्वरूप वस्तुत: ब्राह्मी लिपि ही भारत के विविध प्रदेशों एवं भारत के बाहर विदेशों में फैली। भारतीय धर्म प्रचारकों द्वारा यह मध्य एशिया पहुँची, जिसमें वहाँ की पुरानी खोतानी, तोखारी एवं ईरानी भाषाएँ लिखी गई।"[5] डा. भोलानाथ तिवारी का कथन है, "यह लिपि भारत के बाहर भी गई, वहाँ इसके रूपों में धीरे-धीरे कुछ भिन्नताओं का विकास हुआ। मध्य एशिया में ब्राह्मी लिपि में ही पुरानी खोतानी तथा तोखारी आदि भाषाओं के लेख मिलते हैं।"[6] यह भी सत्य है कि वहाँ रहने और वहाँ की भाषा और लिपियों के मिश्रण से ब्राह्मी ने एक परिवर्तित रूप धारण किया। यह स्वाभाविक भी था। आदान-प्रदान से ऐसा होता ही है। अपने मातृदेश में भी भाषा और लिपि एक ही रूप में स्थायी नहीं होती। युगानुरूप उसमें परिवर्त्तन होता है, होना भी चाहिए, तभी वह मृत्युञ्जयी हो सकती है, अन्यथा दिवंगत होना परिणाम है। अनेक लिपियाँ उसी परिणाम को प्राप्त हुईं। आज उनका उल्लेख-मात्र मिलता है। उनमें प्रजनन शक्ति नहीं थी और वे

---

१. पं० सुन्दरलाल, 'हजरत ईसा और ईसाई धर्म', पृष्ठ २२.
2. Maj. General J. S. R. Forlong, Studies in Science of Comparative Religions, p. 20.
3. Jadunath Sarkar, Bibioteea Indica, Ain-I-Akabari, vol. II, Royal Asiatic Society, 1949. p.377.
4. "It were the Phoenician and the Armaic characters which derived some Elements from the Proto-type of the Brahmi and not the vice-versa." —Indian Palaeography, p. 47.
५. डॉ० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास, पृष्ठ ५८०.
६. डॉ० भोलानाथ तिवारी, हिन्दी भाषा, पृष्ठ ६९०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरवंसिया चल वसीं। ब्राह्मी की कोख फलवती थी। उसका वंश चलता रहा। आज देवनागरी आदि साम्प्रतिक लिपियाँ उसी से सम्बद्ध हैं।

ईसवी पूर्व ५०० से ३५० ई. तक ब्राह्मी में अनेक परिवर्तन होते रहे, किन्तु तब तक वह लिपि ब्राह्मी के नाम से ही पुकारी जाती थी। ईसवी सन् ३५० के बाद वह स्पष्ट रूप से उत्तरी और दक्षिणी शैलियों में विभक्त हो गई। उनके नाम भी भिन्न हो गये। प्राचीन मौर्य एवं शुंग युग की ब्राह्मी चौथी शताब्दी में गुप्त ब्राह्मी में परिणत हुई। गुप्त युग के पूर्व–ई०पू० दूसरी शताब्दी में ही अशोक के लेखों की लिपि से कलिंग-लिपि में स्पष्ट भिन्नता उत्पन्न हो गई थी। हाथीगुम्फ शिलालेख से यह बात स्पष्ट है। हाथीगुम्फ के अक्षरों के सिरे छोटी रेखा आती है। अशोककालीन ब्राह्मी में अक्षरों की गोलाई थी, रेखा नहीं थी, जो आगे चल कर प्रकट हो गई। मौर्य ब्राह्मी में दीर्घ ई तथा ऊ के लिए क्रमशः सिरे तथा नीचे दो रेखा जोड़ दी जाती थीं। हाथी गुम्फ में यह बात दृष्टिगोचर नहीं होती।[1] इसी प्रकार नागार्जुनी गुफा लेख (फलक ii, स्त० xvii) के अक्षरों को अशोक के आदेश लेखों के अक्षरों से पृथक् किया जा सकता है। नागार्जुनी कोंडा के लेखों में ज, न, द, ल, अक्षर काफी विकसित हैं और इनमें खड़ी लकीरें काफी छोटी हो चुकी हैं।[2] डा० के० पी० जायसवाल 'हाथीगुम्फ' शिलालेख की लिपि को केवल ब्राह्मी मानते हैं, न मौर्य, न गुप्त और न शुङ्ग।

डा० बूलर गुप्त युग से पूर्व उत्तरी भारत की शैली को दो भागों में विभक्त हुआ मानते हैं—एक है शुंग लिपि, जिसमें उत्तरी क्षत्रप रंजुवल का मथुरा लेख लिखा गया और दूसरी है कुषाण लिपि, जिसमें कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के लेख प्राप्त होते हैं। गुप्त युग के ही पूर्व–३५०ई०पू०, जब समस्त भारत की लिपि का नाम ब्राह्मी था, उत्तरी और दक्षिणी लिपियों के लेखों में अन्तर प्रारम्भ हो गया था। उत्तरी भारत की शुंगकालीन भरहुत वेदिका के लेख और दक्षिण के शासक सातवाहन के नासिक और नानाघाट के लेखों की लिपि में स्पष्ट भिन्नता है, कम से कम समान तो नहीं है। मौर्यकालीन लिपि (अशोक लिपि) में स्वर के चिन्ह अक्षर के सिरे पर या नीचे लगाये जाते थे, विसर्ग का नाम नहीं था और ऋ का सर्वथा अभाव था। सबसे पहले उनका प्रयोग ईसवी सन् १२०-२५ के उषवदत्त के नासिक लेख में प्राप्त होता है। संयुक्ताक्षरों का निश्चित प्रयोग रुद्रदामन के ईसवी सन् १५० के लेख में मिलता है।[3] इस प्रकार, ब्राह्मी एक नाम के होते हुए भी, उत्तर और दक्षिण, और उत्तर के भी विभिन्न भागों की लिपियों में देशभेद और राज्य भेद के कारण भेद हो गया था। स्थान की कमी और अधिकता भी शैलियों के अन्तर का कारण वनी। पश्चिमी भारत के क्षत्रप और सातवाहन नरेशों के

---

१. डॉ० वासुदेव उपाध्याय, 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन', पृष्ठ २५१.

२. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ६८.

३. 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन', पृष्ठ २५०-५१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुद्रा लेखों में नये अक्षर—ज्ञ, य, स, ह, क्ष, म तथा इ सामने आये। सिक्कों पर स्थान की कमी के कारण इस शैली को अपनाना पड़ा। यह सच है कि चौथी सदी तक आते-आते मौर्य लिपि में आमूल परिवर्तन हुआ। चौथी सदी से छठी सदी तक नर्वदा के उत्तर में प्रचलित लिपि को गुप्त लिपि कहा गया। अवश्य ही यह नाम गुप्त शासकों के आधार पर आधृत था।[१]

गुप्त लिपि

गुप्त लिपि लोकप्रिय बनी। सर्वत्र उसका प्रचार होने लगा। संस्कृत भाषा ने उसे अपना माध्यम माना। जिह्वामूलीय और उपपध्मानीय का सर्वप्रथम उपयोग गुप्त लिपि में ही देखने को मिलता है। इसका प्रमाण भिलसा के समीप उदयगिरि के एक लेख में पाया जाता है।

गुप्त लिपि को मुख्य रूप से दो शैलियों में विभक्त किया जा सकता है—एक पश्चिमी और दूसरी पूर्वी।[२] कुमार गुप्त प्रथम ने भिलसद् (एटा जिला) में एक लेख खुदवाया था, जो पश्चिमी शैली का प्रतिनिधि लेख है। इसकी विशेषता हे कि इसके स्वर बिलकुल स्पष्ट हैं। इन्हीं के कारण आगे चल कर 'कुटिल लिपि' का आविर्भाव हुआ। मथुरा के जैनों के दान लेखों में भी यही शैली प्रयुक्त हुई। मालवा के उदयगिरि का जैन अभिलेख और राजस्थान का विजयगढ़ अभिलेख भी इसी शैली में आते हैं।[3]

पूर्वी शैली का प्रतिनिधि लेख प्रयाग का स्तम्भ लेख है। इसमें ल, स, ह, म अक्षरों का नया रूप दिखाई पड़ता है। इसी में इ के लिए दो बिन्दु तथा सामने लम्बवत् रेखा का प्रयोग किया गया है। सभी अक्षरों में कोण तथा शिरोरेखा पाई जाती है।[४] इससे आगे चल कर छठी शताब्दी में सिद्धमातृका लिपि का विकास हुआ। वोध गया का ५८८–८९ का प्रसिद्ध लेख इसी लिपि में लिखा गया था। फ्लीट ने इस अभिलेख का सम्पादन किया है।[५] बूलर इसे न्यूनकोणीय लिपि कहते हैं। यह नाम देने के सन्दर्भ में उनका कथन है, "इन रूपों की मुख्य विशेषता यह है कि इनमें अक्षर दायें से वायें को झुकते हैं। नीचे या दायीं ओर आखिर में एक न्यून-कोण बनता है। अक्षरों में खड़ी या तिरछी रेखाओं के सिरों पर हमेशा छोटी-सी कील बनती है। अगली चार शताब्दियों के वहुसंख्यक अभिलेखों में ये विशेषताएँ मिलती हैं। इसलिए इस वर्ग के अक्षरों को मैं न्यूनकोणीय अक्षर ही कहना उचित

१. 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन', पृष्ठ २५१.
2. Indian Antiquary, XXI, p. 29.
३. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ९४.
४. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन पृष्ठ २५२.
५. देखिए गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, फ्लीट-सम्पादित.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समझता हूँ।"[१] इसका भारतीय नाम सिद्धमातृका लिपि था। बरूनी ने इसे स्वीकार किया है और काश्मीर तथा बनारस में इसका प्रचलन भी बताया है।[२]

बूलर ने न्यूनकोणीय लिपि के विकास को तीन चरणों में बांटा है। प्रथम चरण में गया और लक्खामण्डल के अभिलेख, द्वितीय चरण में आदित्यसेन की अफसड़ प्रशस्ति के अक्षर (सातवीं सदी) और तीसरे चरण में मुलताई ताम्रपट्ट (७०८-९) और सन् ८७६ का ग्वालियर का अभिलेख आते हैं। बूलर ने माना है कि आठवीं दसवीं शती में न्यूनकोणीय अथवा सिद्धमातृका लिपि धीरे-धीरे विकसित होती-होती अपनी उत्तराधिकारिणी नागरी लिपि की ओर चली जाती है। नागरी के पुराने भारतीय रूप और इसमें सिर्फ इतना अन्तर है कि नागरी में खड़ी लकीरों के सिरों पर कीलों के स्थान पर आड़ी रेखाएँ बनाते हैं।[३]

यह सच है कि सातवीं शताब्दी से 'गुप्त ब्राह्मी' में परिवर्तन आरम्भ हो गया था। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात्, राजनैतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई। उसका प्रभाव लिपि पर भी पड़ा।[४] लिपि के भी अनेक रूप हो गये, अर्थात् उसने अनेक रूप धारण कर लिए। इसे विकास भी कह सकते हैं। इनमें न्यूनकोणीय अथवा सिद्धमातृका लिपि की बात ऊपर कही जा चुकी है। सिद्धमातृका और नागरीलिपि में बहुत थोड़ा अन्तर है, यह भी कहा जा चुका है। यहाँ नागरीलिपि के सम्बन्ध में विशदता अभीष्ट प्रतीत होती है।

नागर लिपि

इसे नागरी या देवनागरी लिपि भी कहते हैं। इसके नामकरण के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। कतिपय विद्वान् नागरी का सम्बन्ध नाग लिपि से जोड़ते हैं। नाग लिपि भारत की पुरानी लिपि है। उसका उल्लेख बौद्धों के 'ललित विस्तर' नाम के ग्रंथ में हुआ है। डा० एल० डी० बार्नेट के अनुसार नाग लिपि और नागरी लिपि में कोई सम्बन्ध नहीं है।[५] दोनों में नितान्त भिन्नता है। नाग लिपि से नागरी लिपि के विकास का कहीं कोई सूत्र नहीं मिलता। गुजरात के नागर ब्राह्मणों से इस लिपि का विकास मानना नितांत अनुपयुक्त है। नाम साम्य का क्षीण सूत्र कोई ठोस आधार नहीं कहा जा सकता।। ऐसी सम्भावनाओं का शोध-खोज के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकार यह मानना कि नगर से नागर लिपि का विकास हुआ, अपने में ही व्यर्थ-सा है। कुछ विद्वानों का यह अभिमत कि—"देवभाषा संस्कृत

---

१. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १०२.
२. इण्डिया I, १७३ (सचाऊ)
३. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १०३-४.
४. हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास, पृष्ठ ५८१.
५. हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास, पृष्ठ ५८३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के लिखने के लिए भी इसका प्रयोग किया गया, अतः इसे देवनागरी कहते हैं।"[१] कोहरे से आछन्न-सा लगता है। एक प्रश्न उभरता है कि—क्या संस्कृत ही देवनागरी में लिखी गई, प्राकृत और अपभ्रंश नहीं? फिर केवल संस्कृत के नाम पर ही उसका नामकरण क्यों हुआ? इसका कोई समुचित समाधान नहीं मिलता।

देवनगर से देवनागरी की उत्पत्ति की बात श्री आर. एम. शास्त्री ने 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' जिल्द ३५ में लिखी थी। उनका कथन है कि—"देवताओं की मूर्तियाँ बनने के पूर्व सांकेतिक चिह्नों द्वारा उनकी पूजा होती थी। वे त्रिकोण, चक्रों आदि से बने हुए यंत्रों के मध्य लिखे जाते थे। सांकेतिक चिह्नों से युक्त ये यन्त्र देवनगर कहलाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालांतर में उन-उन नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे। देवनगर के मध्य उनका स्थान था, अतः उनसे बनी लिपि देवनागरी के नाम से ख्यात हुई।" श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा शास्त्रीजी के इस कथन को गवेषणा-पूर्ण मानते हैं, किन्तु इसमें दिये गये तान्त्रिक पुस्तकों के उद्धरणों के काल निर्णय के सम्बन्ध में उन्हें संदेह है। उनका कथन है, "जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि जिन तांत्रिक पुस्तकों से अवतरण दिये गये हैं, वे वैदिक साहित्य से पहले के हैं अथवा काफी प्राचीन हैं, इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।"[२] किन्तु यह समझ में नहीं आया कि ओझाजी को यह आग्रह क्यों है कि ये तान्त्रिक चिह्न वैदिक साहित्य से पूर्व के अथवा अत्यधिक प्राचीन ही होने चाहिए। न तो देवनागरी प्राचीन है न उसके विकास के मूल के ही प्राचीन होने की आवश्यकता है। वैसे देवताओं को लेख कहने की बात अत्यधिक प्राचीन है, शायद इस कारण कि घर-द्वारों पर रेखाओं से देवताओं के चित्र बनाने की प्रथा थी।[३] यह कोई तान्त्रिक क्रिया नहीं थी, अपितु सर्वसाधारण में प्रचलित रिवाज था। उन रेखाओं से लिपि का विकास हुआ और उसी क्रम में देवनागरी भी एक है।

देवनागरी नाम जिस किसी भी कारण से पड़ा हो, किन्तु उसका विकास सिद्धमातृका से हुआ, इसे सभी मानते हैं। इसमें सिरे की पड़ी रेखा लम्बी हो गई और अक्षरों में लम्बी लकीर का समावेश हो गया। सिद्धमातृका से भिन्न सिरे की मात्राएँ अधिकतर सीधी हो गईं। सातवीं सदी में नागरी के स्वरूप का आभास मिलने लगा था, किन्तु नवीं सदी से सर्वत्र नागरी में लेख या पुस्तक लिखना आरम्भ

---

१. भाषाशास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूपरेखा, डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृष्ठ ३१६.
२. ओझा, प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ ३०.
३. "लेख : देवः। लेखः कस्मात्? पुरा हि अनुमतां दिव्यानां देवानां विग्रहात्मिका रूपवर्णरचना भित्तिषु लिखित्त्वैव क्रियते स्मेति लेखः।" देखिए जिनसहस्रनाम, 'लेखर्षभोऽनिलः' की श्रुत-सागरीय व्याख्या।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो गया। ग्यारहवीं सदी तक तो उत्तरी भारत में नागरी व्याप्त हो गई। उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, बंगाल, राजपूताना में सभी जगह नागरी में अभिलेख तथा मुद्रालेख उत्कीर्ण किये गये।[1] गुजरात, महाराष्ट्र और राजस्थान में अनेक ग्रन्थ ताड़पत्र पर लिखे मिले हैं, जो देवनागरी में हैं।[2] सातवीं शताब्दी के देवनागरी के प्राचीन अभिलेख उपलब्ध हैं।

देवनागरी अर्द्धअक्षरात्मक लिपि है। इसमें अड़तालीस चिह्न हैं, जिनमें १४ स्वर एवं संध्यक्षर तथा ३४ मूलव्यञ्जन शामिल हैं। इन व्यञ्जनों को ही अक्षर कहते हैं। यह सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है, जिसके अक्षर में अ अन्तर्निहित है। उसका पृथक उच्चारण नहीं होता। यह अंग्रेजी और फारसी दोनों लिपियों से अधिक पूर्ण और युक्तिसंगत है। इसमें भारत-आर्यायी भाषाओं में पाई जाने वाली प्रायः सभी ध्वनियों के लिए अलग-अलग चिह्न हैं। चिह्नों की ऐसी स्पष्टता न रोमन लिपि में है और न फारसी में।[3] अंग्रेजी और फारसी के सभी शब्दों को देवनागरी लिपि में लिखा जा सकता है, किन्तु संस्कृत और हिन्दी के सब शब्दों को रोमन और फारसी लिपि में नहीं लिखा जा सकता। इसी कारण स्वतंत्रता के बाद देवनागरी को राष्ट्रलिपि घोषित किया गया। कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस श्री शारदाचरण मित्र ने गत शताब्दी के अन्त में ही देवनागरी की राष्ट्र-व्यापी सामर्थ्य की बात कही थी। आगे चल कर उसे राष्ट्रीय पद भी प्राप्त हुआ।

डॉ. चटर्जी के शब्दों में देवनागरी का भारत की अन्य प्रान्तीय लिपियों से सहोदर बहनों या चचेरी बहनों का-सा सम्बन्ध है। बंगला-असमी, मैथिली, उड़िया, गुरुमुखी तथा देवनागरी एक-दूसरे से इतने निकट रूप से सम्बद्ध हैं एवं एक-दूसरे से इतनी अधिक मिलती-जुलती हैं कि हम उन्हें एक ही लिपि की विभिन्न शैलियाँ तक कह सकते हैं। समूचे भारत में सभी लिपियाँ देवनागरी लिपि की स्वगोत्र या कौटुम्बिक लिपियाँ ही सिद्ध होती हैं।[4] प्रसिद्ध डॉ. एस. एम. कत्रे ने देवनागरी लिपि के वैज्ञानिक गठन तथा उसकी ऐतिहासिक महत्ता पर बल देते हुए उसे अपवाद के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उनके विचार से अन्य लिपियों के साथ देवनागरी की तुलना अनावश्यक है। उत्तरी और दक्षिणी भाषाओं की महान् लिपियों के बीच में ही नहीं, भारतीय आर्य तथा द्रविड़ वर्गों की लिपियों के बीच में भी देवनागरी ने

---

१. 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन', पृष्ठ २५३.
२. 'हिन्दी भाषा: उद्गम और विकास', पृष्ठ ५८४.
३. डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, १९५७, पृष्ठ २३८.
४. वही, पृष्ठ २३३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक कड़ी का काम किया है।[१] आचार्य विनोवा भावे भारत की सभी भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखने के पक्ष में हैं। पिटमन के शब्दों में—संसार में यदि कोई पूर्ण वर्णमाला है, तो वह हिन्दी की है।

कुटिल लिपि

टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखे जाने के कारण इसे कुटिल लिपि कहते हैं। गुप्तलिपि में जो अक्षर लिखे जाते थे, कुटिल लिपि में उनके नीचे की ओर खड़ी रेखाएँ बाँयीं ओर मुड़ी हैं तथा स्वर की मात्राएँ टेढ़ी और लम्बी हो गई हैं। लिपि के लिए यह कुटिल शब्द 'देवललेख' (उत्तरप्रदेश) में देखने को मिलता है। वहाँ 'कुटिलाक्षराणि' लिखा हुआ है। 'विक्रमांक देवचरित' में भी कुटिल लिपि का उल्लेख है। बाद में, इसका दूसरा नाम पड़ा—विकटाक्षरा। गुप्त नरेश आदित्यसेन के अपसद (गया जिला) और विष्णु-गुप्त के मंगराव (शाहाबाद जिला) लेख भी इसी विकटाक्षरा में लिखे गये हैं।[२] यह लिपि पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मनीपुर और नैपाल में प्रचलित थी। वहाँ के अधिकांश लेख इस लिपि से सम्बन्धित हैं।

यह कोई पृथक् लिपि नहीं थी, इसी के अक्षरों में कुछ परिवर्तन कर नागरी और शारदा लिपियों का विकास हुआ था। आ, हलन्त और उप-पध्मानीय का प्रयोग तो दोनों में (कुटिल और नागरी) समान ही था। कोई अन्तर नहीं था। मंदसौर, मधुवन और जोधपुर आदि लेखों में कुटिल लिपि के अक्षर देवनागरी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। कुटिल लिपि का समय छठी से नौवीं सदी तक माना जाता है।

शारदा लिपि

पश्चिमी गुप्त लिपि से शारदा लिपि का विकास हुआ। आठ सौ ईसवी के आस-पास काश्मीर और उत्तर-पूर्वी पंजाब में इसका अस्तित्व पाया जाता है। इसके तीन रूप हैं—टक्री, लण्डा और गुरुमुखी। श्री ग्रियर्सन के अनुसार शारदा, टक्री और लण्डा—तीनों एक लिपि से उत्पन्न होने के कारण भगिनी-स्वरूपा हैं, किन्तु बूलर टक्री को शारदा से उत्पन्न मानता है। अर्थात् वह शारदा की भगिनी नहीं पुत्री थी। टक्री टक्क लोगों की लिपि थी। टक्क एक जाति थी जो प्राचीन साकल और आधुनिक स्यालकोट में रहती थी। इस लिपि के स्वर अपूर्ण हैं और इसके अनेक रूप पञ्जाब के उत्तर तथा हिमालय के निचले भागों में बोले जाते हैं। डॉ. बूलर इसे जम्मू और

१. भाषा (पत्रिका), वर्ष ६, अंक ४, पृष्ठ ६.
२. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ २५२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके आस-पास के डोंगरों की लिपि बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में अब तो इसका प्रचलन काश्मीर में भी हो गया है।[1]

शारदा लिपि में लिखे गये अभिलेखों में सबसे प्राचीन कीरग्राम (कांगड़ा) की दोनों 'वैजनाथ प्रशस्तियाँ' मानी जाती हैं। इनकी तिथि ८०४ ई. है। प्राचीन भारत में बहुत-से नागरी के हस्तलिखित ग्रंथों के हाशियों पर टिप्पड़ियाँ शारदा लिपि में दी हुई हैं।

शारदा लिपि के अक्षर कुषाण काल से मिलते-जुलते हैं। उसकी लकीरें रूखी और मोटी होती हैं। डॉ. बूलर का अभिमत है कि सातवीं सदी से पहले शारदा लिपि गुप्तलिपि से पृथक् नहीं हुई थी। इसके प्रमाण स्वरूप उन्होंने शारदा लिपि में द्विपक्षीय य के प्रयोग को, ण की आधार रेखा के दबने को, इ और ई की मात्राओं के क्रमशः बायें और दायें खिचने को तथा जिह्वामूलीयों के सरलीकरण को प्रस्तुत किया है।[2]

ब्राह्मी से विकसित दक्षिणी लिपियाँ

दक्षिणी भारत की लिपियों के सम्बन्ध में श्री रामधारीसिंह दिनकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है "द्राविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं। ब्राह्मी का ज्ञान अशोक के समय दक्षिण भारत में भी प्रचलित रहा होगा, अन्यथा अशोक ने अपने अभिलेख, दक्षिण में भी, ब्राह्मी में ही नहीं खुदवाये होते। ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया, जिनमें से एक लिपि कन्नड़ हुई।"[3] एक ग्रन्थ है—कन्नड़ साहित्य का इतिहास, इसके लेखक हैं—श्री सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ। उन्होंने तेलगु, कन्नड़ तथा तमिल के ब्राह्मी से विकसित होने की बात लिखी है। उनका कथन है, "तेलगु तथा कन्नड़ लिपियों में अत्यल्प अन्तर है, उतना जितना कि देवनागरी और गुजराती लिपि में। दो-तीन अक्षरों के सिवा बाकी सब अक्षर दोनों लिपियों में समान हैं। अक्षरों के ऊपर की शिरोरेखा में दोनों लिपियों में जरा-सा अन्तर है। ब्राह्मी लिपि की वही शाखा, जिससे कन्नड़ लिपि निकली है, दक्षिण में सिंहल तथा पूर्व में सुदूर जावा तक जा पहुँची। अतः सिंहल तथा वर्मा आदि की लिपियाँ कन्नड़ तथा तेलगु लिपि से मिलती-जुलती है। तमिल लिपि ब्राह्मी की एक दूसरी शाखा से निकली, अतः कन्नड़ और तेलगु लिपि से भिन्न है। यों तो ब्राह्मी

१. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ११७.

२. देखिए वही, पृष्ठ ११७-११८.

३. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिपि से निकली होने के कारण भारत की तथा एशिया की अन्य सभी लिपियों में कुछ समानता है?"[१]

डॉ. बूलर ने तेलगु-कन्नड़ का विकास तीन क्रमों में स्वीकार किया है। पहला क्रम वह है, जो कदम्ब अभिलेखों और दानपत्रों में प्राप्त होता है। इनका समय ईसवी पाँचवीं-छठी शती है। दूसरा विकास-क्रम चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के अभिलेखों में मिलता है। इनका समय सन् ६५० से ९५० तक है। विकास के तीसरे चरण को फ्लीट पुरानी कन्नड़ कहता है। इस लिपि के नमूने पूरब में ११ वीं शती के वेंगी के अभिलेखों में और पश्चिम में सन् ९७८ के गंग अभिलेख में उपलब्ध होते हैं। पुरानी कन्नड़ आधुनिक कन्नड़ से अधिक भिन्न नहीं है। उसकी सब-से-बड़ी विशेषता है कि उसमें सभी मात्रिकाओं के ऊपर कोंण बनते हैं। इन मात्रिकाओं में ऊपर स्वर चिह्न नहीं लगते। ये कोण आधुनिक कन्नड़ से मिलते-जुलते हैं।[२]

तैलगु-कन्नड़ का प्रयोग बम्बई के दक्षिण भाग में, आन्ध्र प्रदेश तथा मैसूर में मिलता है। नौवीं सदी के कन्नड़ ग्रन्थ-कविराजमार्ग में इसके दर्शन भलीभाँति होते हैं।

दक्षिण में प्रचलित एक लिपि का नाम था, 'ग्रन्थ लिपि'। यह पूर्वी मद्रास के किनारे से प्राप्त एक प्राचीन संस्कृत अभिलेख में मिली है। यह लिपि कांची में पांचवीं से नौवीं सदी तक तथा चोल (उत्तरी मद्रास राज्य) में नौवीं से चौदहवीं सदी तक प्रयुक्त होती रही। पल्लव राज्यवंश के ताम्र-पत्र (सातवीं सदी) ग्रन्थ लिपि में ही लिखे गये थे। इसका नाम 'ग्रन्थ लिपि' इसलिए पड़ा कि आरकट से केरल तक सभी ग्रन्थ इसी लिपि में लिखे गये।[३] डॉ. बूलर का कथन है कि तमिल जिलों की संस्कृत लिपियों को सामान्यतया 'ग्रन्थ लिपि' कहते हैं। इस लिपि के सबसे पुराने रूप पलक्कड़ और दशनुयव के पल्लव राजाओं के ताम्र पट्टों पर मिलते हैं। इसका आखिरी उदाहरण-बादामी का अभिलेख है। यह अभिलेख पल्लव नरसिंह प्रथम ने ६२६ से ६५० के बीच कभी खुदवाया था। 'ग्रंथ लिपि' के अक्षर पुरानी तेलगु-कन्नड़ से मिलते हैं। इस लिपि के शा या शी की ओर हुल्श ने ध्यान आकर्षित किया है, जो दसवीं-ग्यारहवीं शती के नागरी रूपों के समान हैं।[४]

तमिल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह पाँचवीं सदी की ब्राह्मी से उत्पन्न हुई और ग्रन्थ लिपि से प्रभावित हुई।[५] मद्रास के भूभाग में और माला-

---

१. कन्नड़ साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६.
२. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १३५-१४०.
३. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ २५४.
४. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १४४-४५.
५. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ, १५३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वार प्रदेश के लेखों में सातवीं सदी से तमिल का प्रयोग होने लगा था। इसमें संयुक्त व्यञ्जन एक दूसरे से मिला कर नहीं, किन्तु पास-पास लिखे जाते हैं। इसमें कुल अठारह व्यञ्जन हैं, शायद इसी कारण, इसमें संस्कृत नहीं लिखी जा सकती। उसके लिए ग्रन्थ लिपि की आवश्यकता पड़ती है।[१]

तमिल की ध्वनियाँ पुरानी कन्नड़ और तेलगु के अनुरूप हैं, किन्तु चिह्न भिन्न हैं। इससे उसका पृथक् अस्तित्त्व सिद्ध ही है। हुल्श ने जिन कूरम पट्टों की खोज की है, उनका बड़ा अंश सातवीं सदी की तमिल लिपि और भाषा में है। हुल्श के कथनानुसार इसके अनेक अक्षरों में उत्तरी लिपियों की विशेषताएँ हैं।[२]

तमिल लिपि का नमूना, कूरमपट्टों के बाद कथाकूडि पट्टों में मिलता है। इनका समय सन् ७४० ई० के आस-पास माना जाता है। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के अभिलेखों में तमिल लिपि एक परिवर्तित रूप में मिलती है, शायद ऐसा ग्रन्थ के प्रभाव से हुआ है। ट, प और व हू-बहू ग्रन्थलिपि के रूप हैं। बूलर का कथन है कि ग्यारहवीं सदी से तमिल के क, ङ, च, त और न के सिरों के बाईं ओर नीचे लटकतीं नन्हीं लकीरें निकल आई हैं। १५ वीं शती में लटकनों का पूर्ण विकास हो गया। उत्तरकालीन तमिल अभिलेखों में पहले तो विराम दुर्लभ हुआ, फिर गायब। अब फिर विराम का प्रयोग होने लगा है। उसके लिए एक बिन्दी लगती है।[3]

भास्कर रविवर्मन के अभिलेखों और ताम्रपट्टों में वट्टेलुत्तु लिपि के दर्शन होते हैं। यह एक घसीट लिपि है। इसका तमिल से वही सम्बन्ध है, जैसे क्लर्कों और सौदागरों की लिपि का अपनी मूल लिपि से होता है अथवा मराठों की मोड़ी का बालबोध से और डोंगरो की टाकरी का शारदा से है। इसमें सभी अक्षर, एक ही बार में, हाथ को बिना उठाये, बायें से दायें को लिखे जाते हैं।[४]

गंगवंशी राजाओं के दानपत्रों में कलिंग लिपि का प्रयोग हुआ था। इनका समय सातवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक माना जाता है। गंगवंशी राजा मद्रास के गंजाम और कलिंग में शासन करते थे। वहीं इस लिपि का प्रचलन था। इसमें तेलगु, ग्रंथ तथा नागरी लिपि का सम्मिश्रण हुआ है। इसके अक्षरों के सिरों पर सन्दूक की आकृति-सी बनती है।[५]

---

१. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ २५४-५५.
२. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १५०-१५१.
३. वही, पृष्ठ १५३.
४. वही, पृष्ठ १५४.
५. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ २५५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खरोष्ठी लिपि

लिपियों के नाना ढंग थे। वे सभी ब्राह्मी नाम से अभिहित होते थे। प्राचीन जैन ग्रन्थों में ऐसे अठारह ढंगों का विवेचन मिलता है और ललित विस्तर नाम के बौद्ध-ग्रन्थ में चौंसठ का। इस सम्बन्ध में ऊपर कहा जा जा चुका है, किन्तु अभी तक पुरातात्त्विक आधार पर और ग्रन्थों के लिखित रूप में केवल दो ही लिपियाँ मिलती हैं—ब्राह्मी और खरोष्ठी। इनमें से ब्राह्मी के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। दूसरी लिपि थी खरोष्ठी, जो सर्वाधिक प्रचलित भारतीय लिपि थी। भारत के पश्चिमोत्तर भाग से लेकर मध्य एशिया तक इसके अवशेष मिले हैं।

नामकरण-सम्बन्धी विकल्प

खरोष्ठ दो शब्दों से मिलकर बना है–खर+ओष्ट। इसका अर्थ है गधे के ओंठ अथवा गधे-जैसे ओंठ। एक मान्यता है कि इस लिपि के आविष्कर्त्ता का नाम खरोष्ठ था और शायद इसी कारण इस लिपि का नाम खरोष्ठी हुआ। दूसरा अभिमत है, उत्तर-पश्चिमी भारत में खरोष्ठी नाम की एक जाति रहती थी, जो असभ्य और बर्बर थी। उसीके नाम पर खरोष्ठी नाम चल पड़ा। तीसरा अभिमत है कि खरोष्ठी शब्द, मध्य एशिया-स्थित काशगर का संस्कृत प्रतिरूप है। इस पर स्टेनकोनो का कथन है कि–"यद्यपि चायनीज तुर्किस्तान में, खरोष्ठी के अनेक लिखित प्रमाण मिले हैं, किन्तु मैं ऐसा मानता हूँ कि वे भारतीय प्रवासियों-द्वारा ले जाये गये थे। वहाँ की लिखित सामग्री ईसा की दूसरी शती से पहले की नहीं है, जबकि भारत में वह ईसा से तीन शताब्दी पहले की पाई जाती है।"[१] कुछ विद्वानों का कहना है कि यह ईरानी शब्द खरपोस्ट का भारतीय रूप है। खरपोस्ट गधे के चमड़े को कहते हैं। ईरान में इस पर लिखा जाता था। पाँचवाँ मत है कि खरोष्ट शब्द हिब्रू के खरोशेथ से बना। प्राकृत में खरोशेथ का खरोट्ठ या खरोट्ठी हुआ और फिर संस्कृत में खरोष्ठ। डॉ. राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि गधे के चलते मुंह के समान अनियमित और अव्यवस्थित होने से इस लिपि का नाम खरोष्ठी हुआ।[२] इन सब मान्यताओं के पीछे कोई सशक्त भूमिका नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ।

---

१. स्टेनकोनो का अभिमत, 'The Origin of the Kharosthi Alphabet', 'Indian Palaeography', Dr. R. B. Pandey, p. 52-53.

2. "The script may have been called so due to the fact that most of the Kharosthi characters are irregular Elongated curves and they look like the moving lips of an ass (Khara). Originally it must have been a nickname, which got currency in course of time.
—Indian Palaeography, Dr. R.B. Pandey, P.53.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहस्रों वर्षों की परम्परा से अनुमोदित एक सम्भावना है कि 'खरोष्ठ' शब्द, 'वृषभोष्ठ' से बना। वृषभ का प्राकृत में—उसभ>रिसभ, संस्कृत में—वृषभ >ऋषभ, अपभ्रंश में वृषभ>रिखव हो जाता है। हिन्दी में भी रिखव चलता है। वर्ण-विपर्यय से 'रिखवोष्ठी' का 'खरोष्ठी' बना। भाषा विज्ञान की दृष्टि से वर्ण-विपर्यय महत्त्वपूर्ण है। उससे शब्द कुछ-से-कुछ बनते रहे हैं। अतः रिखवोष्ठी से खरोष्ठी को एक भाषा वैज्ञानिक व्युत्पत्ति कह सकते हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है वृषभदेव का सर्वमान्य व्यक्तित्त्व। ब्राह्मी लिपि के प्रसंग में उनका उल्लेख हो चुका है। उनकी दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी क्रमशः उनके बायीं और दायीं ओर बैठी थीं, अतः उन्होंने ब्राह्मी के बायें हाथ पर, अपने दाहिने हाथ से तथा सुन्दरी के दायें हाथ पर अपने बायें हाथ से लिखा। यही कारण था कि सुन्दरी को जो कुछ सिखाया गया, वह दायें से बायीं ओर चला। विशेषकर उसे गणित की शिक्षा दी गई और 'अङ्कानां वामतोगतिः' प्रसिद्ध हुआ। अभिधान राजेन्द्र कोश के 'उसभ' प्रकरण में लिखा है—

"लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिणकरेण।
गणियं संखाणं सुन्दरीए वामेण उवइट्ठं॥'

टीका—"लेखनं लेखो नाम सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्त्वाल्लिपिविधानं तच्च जिनेन भगवता वृषभस्वामिना ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमत एव तदादित आरभ्य वाच्यते। गणितं नामैकद्वित्र्यादि संख्यानं तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमत एव तत्पर्यन्तादारभ्य गण्यते।"[1]

इसका अर्थ है कि वृषभदेव ने ब्राह्मी को दाहिने हाथ से लिपि की शिक्षा दी और बायें हाथ से सुन्दरी को गणित और संख्या की शिक्षा दी। इससे ऐसा अनुमान सहज ही होता है कि ब्राह्मी लिपि के विपरीत, दाहिनी ओर से बायीं ओर लिखी जाने वाली खरोष्ठी के नाम से प्रसिद्ध हुई। आचार्य दामनन्दि ने भी अपने 'पुराण सारसंग्रह' के 'आदिनाथ चरित' में "वामहस्तेन सुन्दर्य्यां गणितं चाप्यदर्शयत्"[2] लिखकर सुन्दरी को बायें हाथ से शिक्षा देनेवाली बात स्वीकार की है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' में 'दर्शयामास सव्येन सुन्दर्याः गणितं पुनः'[3] लिखा है और उससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

इससे खरोष्ठी के आर्मेइक से उत्पन्न होने का एक ठोस आधार खण्डित हो जाता है। डा. बूलर और डिरिंजर का अभिमत है कि दायें से बायें लिखने की

१. अभिधान राजेन्द्रकोश, 'उसम' प्रकरण, भाग २, पृष्ठ ११२६.
२. आदिनाथ चरित, पुराणसार संग्रह, डॉ. गुलाबचन्द चौधरी-सम्पादित, ३/१४.
३. हेमचन्द्राचार्यकृत, त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित, १/२/६६३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवृति केवल आर्मेइक लिपि में थी और खरोष्ठी को यह प्रवृत्ति उससे ही, ईसा से पांच शती पूर्व प्राप्त हुई। इस कथन पर डा. राजबली पाण्डेय की प्रतिक्रिया दृष्टव्य है—

"The direction of the Kharosthi from the right to the left is no guarantee that it was derived from the Semetic source as leftward movement of writing can not be regarded an absolute monopoly of the semetic people. In a vast country like India the Evolution of two types of writing, one runing from the left to the right and the other from the right to the left was not impossible."[1]

दोनों प्रकार की लिखने की प्रंणालियों का इतने वड़े भारत देश में प्रचलित होना असम्भव नहीं है, ऐसा उनका कहना है और यह कथन केवल सम्भावना-गर्भित है। पाण्डेयजी कोई प्रमाण नहीं दे सके थे, किन्तु जैन ग्रन्थों में प्रमाण भी सहज उपलब्ध हो जाते हैं। यह सच है कि दायें से वायें लिखने के ढंग पर आर्मेइक लिपि का एकाधिकार नहीं था। आर्मेइक से वहुत पूर्व सम्राट ऋषभदेव ने जहाँ वायें से दायें लिखना सिखाया, वहाँ दायें से वायें लिखना भी सिखाया।

इसके अतिरिक्त, ब्राह्मी के समान ही खरोष्ठी भी अक्षरात्मक लिपि है। इसमें व्यञ्जन के साथ-साथ स्वर भी वृत्त अथवा पड़ी रेखा के रूप में आते हैं। आर्मेइक में घ, ध और भ वर्णों का अभाव है, किन्तु खरोष्ठी में इसके चिन्ह वर्तमान हैं। वूलर ने खरोष्ठी के लिपिचिन्हों की आर्मेइक से उत्पन्न हो ने की जो कल्पना की है,[२] वास्तव में उसे एक कष्ट कल्पना ही कहना चाहिये।[3] विश्व की लिपियों के वर्ण, रेखाओं, अर्धवृत्तों और वृत्तों आदि से ही वनते हैं। इनमें आवश्यक परिवर्त्तन करके किसी भी लिपि को अन्य लिपि से उद्भूत कहा जा सकता है।[४]

एक वात अवश्य है कि ब्राह्मी में दीर्घस्वर मौजूद थे, खरोष्ठी में नहीं थे। विद्वानों का कथन है कि खरोष्ठी में दीर्घस्वरों का अभाव प्राकृत-प्रयोग के कारण था। प्राकृत लोकप्रिय भाषा थी। उसमें दीर्घ स्वर नहीं थे। प्राकृत के लिखने में ही खरोष्ठी का प्रयोग होता था, अतः उसमें दीर्घस्वरों का न होना स्वाभाविक ही है। डा. राजबली पाण्डेय का यह कथन—

"The absence of long vowels in the kharosthi is due to avoid long vowels, big compounds and big ligatures-thus the

---

1. "Indian Palaeography, Dr. R.B. Pandey, P. 55-56.
२. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ३९-४१.
3. "The close study of the comparative table will reveal that resemblance between the Kharosthi and the Armaic is very superflous and it does not warrant the derivation of the former from the latter".
—Indian Palaeography, Dr. R.B. Pandey, P.55.
४. हिन्दी भाषा: उद्गम और विकास, पृष्ठ ५९०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

so called common Characteristics of the kharosthi were due to its popular use and not due to any semetic influence."[१]

नितान्त सत्य है। खरोष्ठी में दीर्घस्वरों के अभाव के पीछे सेमेटिक प्रभाव खोजना भारत में मौजूद तथ्यांशों से आँख फेरना है।

खरोष्ठी ब्राह्मी से प्रभावित थी, यह बात डा. बूलर ने भी स्वीकार की है। उनका कथन है, "व्यञ्जनों में अ की अन्तर्हित ध्वनि के लिए अलग चिह्न न लगाना और संयुक्ताक्षरों को बनाने के नियम निःसन्देह ब्राह्मी से लिए गए हैं। इनमें थोड़ी रद्दोबदल अवश्य हुई है। यह भी सम्भव है कि इ, उ, ए और ओ के लिए सीधी लकीरों का प्रयोग भी ब्राह्मी से ही लिया गया हो, क्योंकि अशोक के सभी आदेश लेखों की ब्राह्मी में उ, ए, और ओ के लिए सदा या बहुधा मामूली लकीरें लगाते हैं। गिरनार में इ के लिए उथला भंग बना देते हैं, जो सीधी लकीर-सा ही दीखता है। दोनों में अन्तर करना प्रायः कठिन होता है। ब्राह्मी में खरोष्ठी की तरह ही इ, ए, और ओ की मात्राएँ व्यञ्जनों के सिरों पर और उ की मात्रा पैरों में लगती है। इसलिए दोनों के स्वरमात्राओं में परस्पर सम्बन्ध है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। इसमें मूल चिह्न ब्राह्मी के ही हैं। खरोष्ठी में सभी स्वर-हीन अनुनासिकों के लिए ब्राह्मी की भाँति अनुस्वार का प्रयोग होता है।"[२]

भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में खरोष्ठी का जन्म हुआ, ऐसा चीनी ग्रन्थों से स्पष्ट ही है। वहाँ यह भी लिखा है कि उसका जन्म-दाता कोई प्रतिभा-सम्पन्न भारतीय व्यक्ति था और उसका नाम शायद खरोष्ठ था।[3] 'शायद' शब्द उत्साहवर्धक है। खरोष्ठ में खर शब्द ने गधे से सम्बन्ध मिलाने पर मजबूर किया। जैन परम्परा से सिद्ध है कि यह वृषभोष्ठ=रिखबोष्ठ=खरोष्ठ था, जिससे खरोष्ठी का जन्म हुआ। जो कुछ भी हो, यह उत्तर-पश्चिमी भाग में छाई रही। पाँच सौ ईसा पूर्व इस प्रदेश पर फारस वालों का आधिपत्य था, यदि यह सत्य है तो यह भी सच है कि उनका डायरेक्ट शासन कभी नहीं रहा, वह सदैव इन-डायरेक्ट चला।[4] उन्होंने खरोष्ठी को एक लोकप्रिय लिपि के रूप में स्वीकार किया। यही कारण है कि उस काल की ईरानी मुद्राओं पर खरोष्ठी के शब्द अंकित किये गये। जब मौर्यों का शासन आया तो उन्होंने भी इस प्रदेश के लिए खरोष्ठी को ही मान्यता दी। अशोक ने मानसरा और शाहबाज गढ़ी के

1. Indian Palaeography, Dr. R. B. Pandey, P. 56.
२. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ४७-४८.
3. "Kharosthi script originated in the North-West part of India and as it is recorded in Chinese traditions, it was invented by an Indian genius whose nick-name was Kharostha, as the letters resemble ass-like.

—Indian Palaeography, P. 58.

4. Indian Palaeography, Dr. R.B. Pandey, P. 56-57.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिलालेखों में खरोष्ठी के शब्द अंकित करवाये। मौर्यों के बाद वैक्ट्रियन, पार्थियन, शक और कुषाणों ने भी इसी लिपि को अपनाया। कुषाण सम्राट बौद्ध थे, अतः उन्होंने धर्मप्रचार के सन्दर्भ में पश्चिम और उत्तर की ओर, अर्थात् बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया की ओर भारतीयों को भेजा। उनके साथ ही वहाँ खरोष्ठी लिपि भी गई। वहाँ के शिलालेख, जो खरोष्ठी में लिखे मिलते हैं, भारतीयों ने खुदवाये थे। उस प्रदेश में भारतीय भाषाओं के लिखने के लिए खरोष्ठी का ही प्रयोग होता था।[१]

पश्चिम और उत्तर के प्रदेशों में, अर्थात् मध्य एशिया आदि में खरोष्ठी के लेख प्राप्त हुए हैं, वे ईसा बाद दूसरी शताब्दी से पहले के नहीं हैं, जबकि भारत में अशोक के, खरोष्ठी में लिखवाये गये शिलालेख ईसा पूर्व तीसरी शती के उपलब्ध हैं। इस आधार पर खरोष्ठी को उत्तर-पश्चिम से आया हुआ नहीं माना जा सकता।[२] उससे पहले के प्रमाण यहाँ उपलब्ध हैं। खरोष्ठी भारत की लिपि थी—भारत में जन्मी और यहाँ ही विकास को प्राप्त हुई। गुप्त सम्राटों के शासन-काल में, जबकि भारतीय एकता और राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ, तो उस समय की सर्वप्रचलित और व्यापक ब्राह्मी लिपि ने खरोष्ठी को अपदस्थ कर दिया और इस भाँति ईसा बाद चौथी सदी तक खरोष्ठी यहाँ प्रतिष्ठित रही।[३]

खरोष्ठी-लिपि

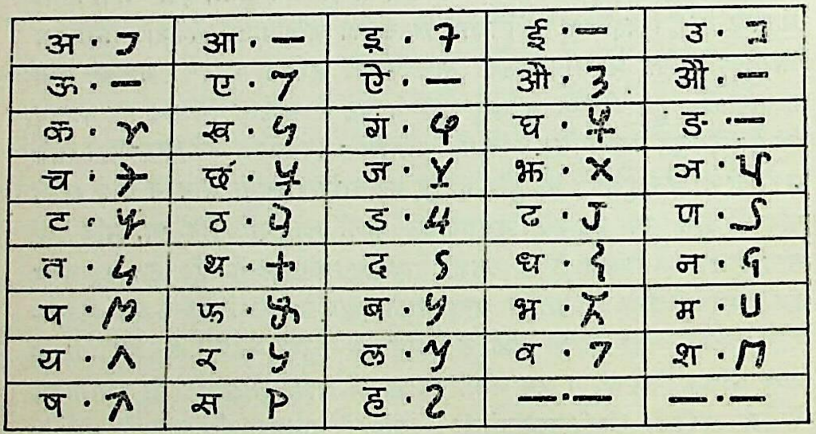

१. वही, पृष्ठ ५३.

2. "Moreover, the manuscript and the documennts belong to a comparatively late date, none of them being apparently older than the second century A.D. In India on the other hand, the use of the Kharosthi can be traced back to the third century B.C".

—Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol.II, P. XIV, Indian Palaeography, Dr.Pandey, P. 53.

३. हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास, पृष्ठ ५६२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खरोष्ठी लिपि में निम्नवर्ण नहीं मिलते हैं—आ, ई, ऊ, ऐ, औ और ङ। इसके अतिरिक्त ऋ, ॠ, लृ, ॡ और संयुक्त व्यंजन क्ष, त्र, ज्ञ, भीं नहीं हैं।

"ध्यायेदनादि सिद्धान्तविख्यातां वर्णमातृकाम् ।
आदिनाथमुखोत्पन्नां विश्वागम विधायिनीम् ।।"

—तत्त्वार्थसार दीपक सन्दर्भ, ३५

—अनादि सिद्धान्त के रूप में प्रसिद्ध एवं सम्पूर्ण आगमों की निर्मात्री, प्रजापति आदिनाथ (ऋषभदेव) के मुख से उत्पन्न वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए।

वर्ण-विपर्यय

एक महान् वैदिक ऋषि का नाम जनता ने 'विश्वामित्र' रख दिया। किन्तु संस्कृत की सन्धि के अनुसार–विश्व+अमित्र=विश्वामित्र। विश्वामित्र शब्द का अर्थ 'समस्त जगत् का शत्रु' होता है जो उस ऋषि को अनादरसूचक अपशब्द (गाली) समान है। अतः संस्कृत व्याकरणकार पाणिनि को 'विश्वामित्र' शब्द का अर्थ 'जगत् का मित्र' ठहराने के लिये, यानि जनता के अशुद्ध उच्चारण को शुद्ध घोषित करने के लिये एक नया सूत्र बनाना पड़ा।

शेर सदा अन्य निर्बल प्राणियों की हिंसा किया करता है। अतः मूलधातु के अनुसार उसका नाम 'हिंस' होना चाहिये, परन्तु जनता उसको 'सिंह' शब्द से उच्चारण कर रही थी, इस कारण व्याकरण को यह शब्द 'हिंस' के बजाय उलटे रूप में 'सिंह' मानने के लिये बाध्य होना पड़ा, इसके लिये उसने लिखा 'सिंहे वर्ण विपर्ययः।'

पृषत्+उदर इन दो शब्दों को मिलकर सन्धि के नियमों के अनुसार 'पृषदुदर' पतली कमर वाला या पतले पेट वाला) शुद्ध रूप में होना चाहिये, परन्तु जनता ने 'पृषोदर' शब्द अपना लिया, तब व्याकरण को जनता की इस अशुद्धि को भी शुद्ध ठहराने के लिये नया नियम बनाना पड़ा।

सिन्धु को सिन्धु रहना चाहिए था, किन्तु वह हिन्दु हो गया। इसी प्रकार सप्ताह का हप्ता और सोम का होम बन गया। अतः बहुत पहले ही यास्क को नियम बनाना पड़ा था—"अथ आदिवर्णविपर्ययोऽपि शब्दविपर्यास हेतुतयोपन्यस्तो यास्केन। अयमपि नियमः सर्वभाषासाधारणो दृश्यते।"

ह्रद को द्रह, गुह्यम् को गुय्हं, आलान को आणाल और अचलपुर को अलचपुर देखकर हेमचन्द्राचार्य ने अपने सिद्धहेमशब्दानुशासन में वर्णविपर्यय की परिभाषा इस प्रकार लिखी, "किसी शब्द के स्वर, व्यञ्जन अथवा अक्षर जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं, तो इनके परस्पर परिवर्तन को विपर्यय कहा जाता है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंक लिपि

'अंकानां वामतो गतिः' की बात कही जा चुकी है। सम्राट ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को अंक लिपि का ज्ञान करवाया था। वह दाहिनी ओर बैठी थी, अतः सुविधानुसार उसके दायें हाथ पर, भगवान् ने अपने बायें हाथ से १, २, ३, ४ आदि अंक लिखे, स्वाभावतः वह दायीं ओर से बायीं ओर चली। तब से ही अंकों की 'वामगति' मानी जाती है। इन्हीं अंकों से संख्या और गणित शास्त्र का विकास हुआ। कुछ आचार्यों ने तो 'गणियं संखाणं' शब्द का प्रयोग किया है। भगवती-सूत्र का 'गणियं संखाणं सुन्दरी ए वामेण उवइट्ठं'[1] प्रसिद्ध ही है। आचार्य पुष्पदन्त के महापुराण में भी 'दोहिं मि णिम्मलकं च न वण्णहं अक्खरगणिइयंकण्णंहं'[2] लिखा मिलता है। आचार्य दामनन्दि ने तो 'वामहस्तेन सुन्दर्य्यां गणितं चाप्यदर्शयत्'[3] लिखा ही है। शत्रुञ्जय काव्य में 'सुन्दरीं गणितं तथा'[4] प्रसिद्ध है। अंक लिपि है, गणित शास्त्र है। यह सिद्ध है कि ऋषभदेव ने अपनी सुन्दरी को अंकलिपि सिखायी थी। गणित अंकों पर ही आधृत है, अतः परवर्ती आचार्यों ने उसे गणित ही कहा।

इस अवधारणा से, भगवानलाल इन्द्राजी का यह अभिमत कि ब्राह्मी के संख्यांकों का मूल भारतीय है,[5] पुष्ट होता है। दूसरी ओर, डॉ. बूलर का यह मत कि इन चिह्नों संख्यांकों का विकास ब्राह्मण अध्यापकों ने किया, क्योंकि वे उपपध्मानीय के दो रूप प्रयोग में लाते है, जो निःसन्देह शिक्षा के अध्यापकों का आविष्कार है,[6] टिक नहीं पाता। यहाँ 'विकास' का अर्थ शायद 'उत्पत्ति' से है, तात्पर्य है कि ब्राह्मण अध्यापकों ने अंक लिपि का आविष्कार किया, किन्तु जैन उद्धरणों से सिद्ध है कि उसके जन्मदाता थे ऋषभदेव—ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व। तीर्थंकर महावीर जिस कड़ी के अन्तिम छोर थे, ऋषभ-देव उसके आदि थे। ये वही ऋषभदेव थे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद से लेकर श्रीमद्भागवत् तक में पाया जाता है, जिनके दादा नाभिराय के नाम पर इस देश का नाम 'अजनाभवर्ष' और ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष पड़ा। ये वही ऋषभदेव थे, जिन्होंने असि, मसि, कृषि में यहाँ के रहने वालों को निष्णात बनाया और जिन्होंने नाना कलाओं में अपने पुत्र-पुत्रियों

---

१. अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग २, पृष्ठ ११२६.

२. पुष्पदन्त, महापुराण, ५/१८.

३. पुराणसार संग्रह, ३/१४.

४. शत्रुञ्जय काव्य, ३/१३०.

५. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १६८.

६. वही, पृष्ठ १६६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और प्रजाजनों को कुशलता दी।[1] यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, कोई श्रद्धा विगलित पौराणिक गप्प नहीं।

इस अंक प्रणाली को जैनाचार्यों ने आगे बढ़ाया। उन्होंने दाशमिक विद्या को जन्म दिया। जैन ग्रन्थ भण्डारों के ताड़पत्र और भोजपत्रों के पृष्ठ-संख्यांक इसके साक्षी हैं। कीलहार्न ने अपनी रिपोर्ट (१८८०-८१) में लिखा है, "जैनों की ताड़पत्रों की पोथियों और कागज के हस्तलिखित ग्रंथों में इनके दाशमिक अंकों के बहुत-से उदाहरण मिलते हैं।"[2] इस सन्दर्भ में डा. बूलर का एक कथन दृष्टव्य है, "अपनी पोथियों के पृष्ठांकन में जैन और बौद्ध प्रायः १ से ३ के लिए दाशमिक अंकों का प्रयोग करते हैं। पुस्तकों के संख्यांक सूचक अक्षर ए (एक), द्वि, त्रि या स्व (१), स्ति (२), श्री (३) मिलते हैं, पर दाशमिक अंकों से कम। 'स्वस्ति श्री' प्रसिद्ध मंगलवाचक पद है, जिससे प्रलेखों का प्रारम्भ होता है। कभी-कभी एक ही प्रलेख में दाशमिक प्रणाली के शून्य और अन्य संख्यांकों के साथ-साथ प्राचीन संख्यांक सूचक चिन्ह भी मिलते हैं।"[3] इससे सिद्ध है कि जैन ग्रन्थों में दाशमिक अंकों का प्रयोग अधिक-से-अधिक होता था। वे ही इसके आविष्कारक थे।

अंकों से संख्या और संख्या से कालगणना का जैसा विवेचन जैन ग्रंथों में मिलता है, अन्यत्र नहीं। आचार्य यतिवृषभ का 'तिलोयपण्णत्ति' एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसकी रचना विक्रम की सातवीं शताब्दी में हुई, ऐसा विद्वानों का मत है। वह प्राकृत भाषा का एक सामर्थ्यवान् ग्रन्थ माना जाता है। उसमें काल और उसकी गणना का विवेचन है। आचार्य यतिवृषभ ने 'व्यवहार काल' की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"समयावलि उस्सासा पाणाथोवा य आदिया भेदा।
ववहारकालणामा णिद्दिट्ठा वीयराएहिं ॥२८४॥
परमाणुस्स णियट्ठिदगयणपदेसस्सदिक्कमणमेत्तो।
जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो ॥२८५॥"

—तिलोयपण्णत्ति ४।२८४-८५

अर्थ—समय, आवलि, उच्छ्वास, प्राण और स्तोक इत्यादि भेदों को वीतराग तीर्थंकर ने व्यवहार काल के नाम से निर्दिष्ट किया है। पुद्गल परमाणु का, निकट में स्थित, आकाश प्रदेश के अतिक्रमण प्रमाण जो अविभागी काल है, वही 'समय' नाम से प्रसिद्ध है।

---

१. देखिए मेरा ग्रन्थ—भरत और भारत.
२. कीलहार्न, रिपोर्ट आन दि सर्च फार संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, १८८०-८१, सं ० ५८.
३. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १६०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन ग्रन्थों में, काल गणना से सम्बन्धित कतिपय पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख हुआ है। उनमें समय, आवलि, उच्छ्वास-प्राण, स्तोक, लव, नाली, मुहूर्त्त और अहोरात्र मुख्य हैं। इनमें भी समय प्रमुख है, क्योंकि यह सब से-छोटा काल-परिमाण होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पंचास्तिकाय' में समय की परिभाषा देते हुए लिखा है, "परमाणु प्रचलनायत्तः समयः।"[१] अर्थात् परमाणु मन्दगति से चलकर, निकटतम प्रदेश में जितने काल में पहुँचता है, उसे समय कहते हैं। समय, आवलि, उच्छ्वास, स्तोक आदि की गणना का मूलाधार है। इस सब को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है[२]—

समय	=	मन्दगति से चलते हुए परमाणु को निकटतम प्रदेश में पहुँचने का काल-परिमाण।		
आवलि	=	असंख्यात समय परिमाण काल		
उच्छ्वास	=	संख्यात आवलि	=	२८८०।३७७३ सेकिण्ड
स्तोक	=	७ उच्छ्वास	=	५ $\frac{१८५}{५३९}$ सेकिण्ड
लव	=	७ स्तोक	=	३७ $\frac{३१}{७३}$ सेकिण्ड
		३ लव	=	निमेष
नाली	=	३८ $\frac{१}{२}$ लव	=	२४ मिनिट
मुहूर्त	=	२ नाली	=	४८ मिनिट
अहोरात्र	=	३० मुहूर्त	=	२४ घण्टे

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पंचास्तिकाय में' 'नयनपुटघटनायत्तो निमिषः'[३] कहा है। इसका अर्थ है कि जितने काल में नेत्र की पलक खुलें, वह निमिष कहलाता है। किन्तु, सब के मूल में 'समय' के होने के कारण, काल का पर्यायवाची समय ही कहलाता है। जैनाचार्यों का कथन है कि समय अतिसूक्ष्म है, अतः वह केवलज्ञानगम्य है। अवशिष्ट चार ज्ञान उस तक नहीं पहुँच पाते। स्थूल समय-समुदायों को काल-चक्र कहते हैं। यह व्यावहारिक है—प्रतिदिन के व्यवहार में आता है।

कालचक्र में चक्र शब्द, 'क्रियते गतिरनेनेति चक्रम्' से गति का सूचक है। काल गतिशील है, प्रवाहमय है, सदैव चलता रहता है, कभी रुकता नहीं। 'सर्वार्थ-

१. पंचास्तिकाय—२५.
२. हीरालाल जैन सम्पादित—धवला, ३/३४.
३. पंचास्तिकाय—२४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धि' में लिखा है, "देशाद्देशान्तरहेतुर्गतिः।"[1] अर्थात् एक देश से दूसरे देश को प्राप्त करने का जो साधन है, उसे गति कहते हैं। राजवार्तिक में गति की परिभाषा एक दूसरे प्रकार से भी दी है, "उभयनिमित्तवशाद् उत्पद्यमानः कायपरिस्पन्दो गतिरित्युच्यते।"[2] इसका अर्थ है कि वाह्य और आभ्यन्तर निमित्त के वश से उत्पन्न होने वाला काय का परिस्पन्दन गति कहलाता है। इस गति का मूल उपलक्षण सूर्य है। सूर्य की आकृति चक्राकार है। उसे आदित्य मंडल भी कहते हैं। संसार का कार्य व्यवहारपरक है और सूर्य उसका प्रतीक साधन है। इस आदित्यमण्डल में वारह आरे लगे हुए हैं, जो सदैव घूमते रहते हैं। उन्हें ही वारह माह कहते हैं। इन वारह आरों में छः ऊपर और छः नीचे लगे होते हैं और ऊपर-नीचे अर्ध-अर्ध वलय में घूमते हैं। मूल-चक्र इन्हीं आरों पर आरोह-अवरोह करता है। इसी कारण सूर्य छःमहीने उत्तर में और छः महीने दक्षिण में गति करता है। इसे उसका उत्तरायण और दक्षिणायन होना भी कहते हैं। इसी को उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल कहा जाता है। उत्सर्पिणी काल में सूर्य का तेज प्रवल हो जाता है, तब दिन लम्वे और रात छोटी होती है। अवसर्पिणी काल में तेज अपक्षीण हो जाता है। अन्धकार का राज्य होता है। रातें वड़ी होने लगती हैं। सूर्य की ये दोनों गतियाँ रोजाना के दिन पर भी लागू होती हैं। प्रातः से मध्याह्न तक सूर्य का उत्सर्पण और फिर सांध्य तक अवसर्पण होता है। उत्सर्पण काल में प्राणियों में आशा, उत्साह, साहस, वुद्धि और वल का उत्कर्ष रहता है, इसके पश्चात् अवसर्पण काल में अनुत्साह, आलस्य और निराशा को जन्म मिलता है। सूर्य के उदय और अस्त का प्रभाव मनुष्य के भावों पर पड़ता है—कैसे और क्या, जैन ग्रन्थों में लिखा मिलता है।

संसार में दो ही वातें हैं—सुख या दुख। जैन आचार्यों ने सुख और दुख के सन्दर्भ में समूचे काल को आदित्यमण्डल[3] के वारह आरों की भांति वारह भागों में विभक्त किया है। वे वारह भाग इस प्रकार हैं—" सुखमा-सुखमा,

---

१. सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, १९५१, अध्याय ४, सूत्र २१, पृष्ठ २५२.

२. तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ, वि.सं.२००८, अध्याय ४,सूत्र २१, पृष्ठ २३६, पंक्ति १. (प्रथम) मिलाइए —"गइकम्मविणिव्वता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।
जीवा दु चाउरंग गच्छंति त्ति य गई होई ॥"
अर्थ—गति नामकर्म के उदय से जीव की जो चेष्टाविशेष होती है, उसे गति कहते हैं, अथवा जिसके निमित्त से जीव चतुर्गति में जाते हैं, उसे गति कहते हैं।
सत्प्ररूपणासूत्र, वर्णीग्रन्थमाला, वाराणसी १९७१, पृष्ठ ८.

३. "वर्षायनर्तुयुग पूर्वकमत्र सौरात्।"
भास्कराचार्य सिद्धान्त शिरोमणि, कालमानाध्याय-३१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा, दुखमा-दुखमा । दुखमा-दुखमा, दुखमा, दुखमा-सुखमा, सुखमा-दुखमा, सुखमा, सुखमा- सुखमा ।।"[1] इसको एक चक्र की आकृति के माध्यम से भलीभाँति समझा जा सकता है—

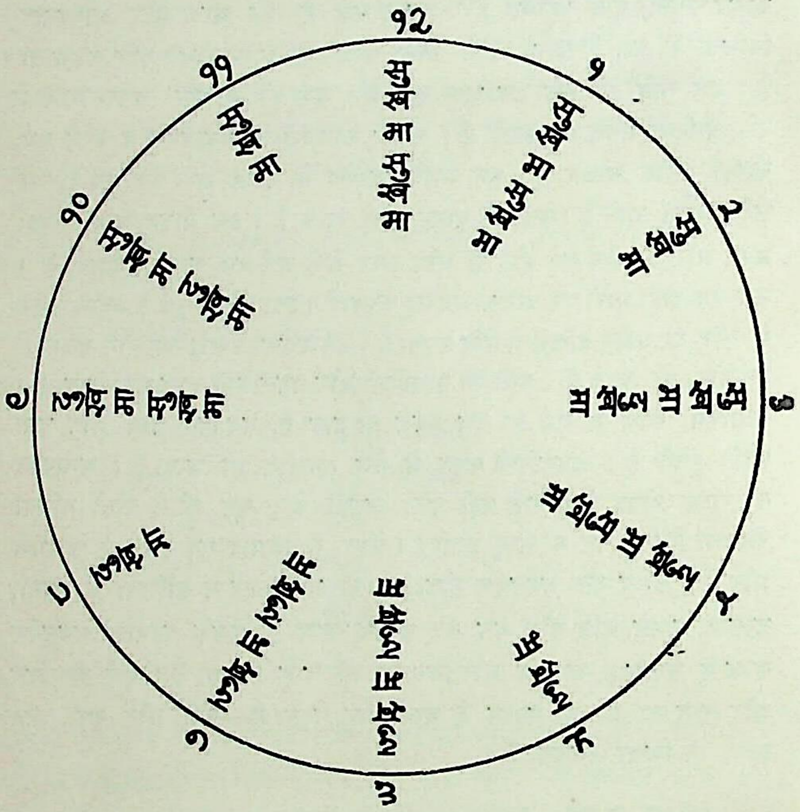

जैनाचार्यों ने जितना अध्यात्म पर बल दिया, उतना ही गणित पर। उनके ग्रन्थों में समुन्नत गणित के दर्शन होते हैं। आज उसको समझने और जानने की आवश्यकता है। यदि गणित के अनुसन्धित्सु जैन ग्रन्थों को देखें, तो निसन्देह नये अध्याय मिलेंगे। उससे प्राचीन भारत के अन्धकार पक्ष पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ सकता है। जिनेन्द्र वर्णी ने अपने 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' में लिखा है, "यद्यपि गणित एक लौकिक विषय है, परन्तु आगम के करणानुयोग विभाग में सर्वत्र इसकी आवश्यकता पड़ती है। कितनी ऊँची श्रेणी का गणित वहाँ प्रयुक्त हुआ, यह बात उसको पढ़ने से ही सम्बन्ध रखती है।[2]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री-विवेचित, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, पृष्ठ १५७-१५८.

२. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ २१३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महावीर-कालीन गणित के भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ने की बात श्री लक्ष्मीचन्दजी जैन ने अपने निवन्ध 'भारतीय लोकोत्तर गणित के शोध-पथ' में लिखी है। वर्द्धमान का तीर्थंकाल एक स्रोत था, जिसका प्रवाह पूर्व में दूर तक गतिशील रहा तो पश्चिम में भी उसकी गति निर्बाध वही। वह एक मिलन था--केन्द्रस्थल। पश्चिम में अरस्तू (३८४-३२२ ई. पू.) ने आत्माओं के श्रेणि-सिद्धान्त की प्ररूपणा की तो पूर्व में—चीन में शुइन-त्सू (२९८-२३८ ई. पू.) ने भी ऐसा ही सिद्धान्त प्ररूपित किया और यही सिद्धान्त भारत में, जीवों के मार्गणा स्थान के रूप में मिलता है। पश्चिम से पूर्व तक की इन अवधारणाओं का मध्यस्रोत महावीर का तीर्थंकाल ही हो सकता है। इसी प्रकार भारत के एक ओर पायथेगोरस और दूसरी ओर कन्फ्यूशस की विचार-क्रान्ति के मिलन-सूत्र भी महावीर ही थे। पायथेगोरस अहिंसा प्रेमी था और महान गणितज्ञ। उन्होंने जीव संख्या की निश्चलता के आधार पर जनता को मांसाहार की ओर से मोड़कर शाकाहारी बनाने का प्रयत्न किया था। चीन में यही बात कन्फ्यूशस-काल में मिलती है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मिश्र में भी इसी युग में अहिंसक परम्पराओं का अनुसरण किया जाने लगा था। शायद अहिंसा-प्रेम ही पायथेगोरस को पूर्व की यात्रा में संलग्न बना सका था।[1] महावीर का तीर्थ-काल अनूठा था, मूल्यवान था और विश्व की विचार-क्रान्ति का एक ठोस आधार।

गणित के सन्दर्भ में जैन प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थ प्राचीन तो हैं ही, सूक्ष्मता की दृष्टि से भी अवलोकनीय हैं। उनमें धवला, अनुयोग द्वार, चरित पाहुड़, तिलोयपण्णत्ति, जम्बूदीवपण्णत्ति, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, राजवार्त्तिक, त्रिलोकसार, हरिवंश पुराण, महापुराण और अर्थ संदृष्टि प्रमुख हैं। महावीराचार्य[2] नाम के एक विद्वान् ने ई. सन् ८१४-८७८ में, 'गणित-सार संग्रह', एक संस्कृत ग्रन्थ की रचना की थी। कणाद से प्राय: दो सौ वर्ष पूर्व एक आचार्य उमास्वाति हुए हैं। उन्होंने एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना की। उसमें पुद्गल के अविभागी प्रतिच्छेद की चर्चा है। अनंत

---

१. श्री लक्ष्मीचन्द जैन, भारतीय लोकोत्तर गणित विज्ञान के शोधपथ, भिक्षु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २२५.

२. महावीराचार्य का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गणितसार संग्रह' मद्रास गवर्नमेण्ट ने, १९१२ में मद्रास से, मि० रङ्गाचार्य एम० ए० रायबहादुर के अंग्रेजी अनुवाद और डॉ० यूजीन स्मिथ की भूमिका के साथ प्रकाशित किया था। भूमिका से स्पष्ट है कि महावीराचार्य के अनेक करणसूत्र, लीलावती के रचयिता भास्कराचार्य (१११४-११८४) के सूत्रों से अधिक सुगम, सही और पूर्ण हैं। यह ग्रन्थ एक अधिकार और आठ व्यवहारों में विभक्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभाज्यता का खण्डन करने वाले जीनो के तर्क और मोशिंग (३७० ई. पू.) की विन्दु की परिभाषा जैन प्राकृत ग्रन्थों में सुरक्षित मिलती है। इसके अतिरिक्त, "प्राकृत ग्रन्थों में अविभाग प्रतिच्छेद को इकाई लेकर यथार्थ अनन्तों का अल्पबहुत्व संरचित किया गया है।"[१] वास्तविकता यह है कि गणित से सम्बन्धित हस्तलिपियों और शिला-लेखों की खोज अत्यावश्यक है। वे यहाँ थीं, यह सुनिश्चित है। आचार्यकल्प टोडरमलजी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड की टीकाओं में उनका प्रयोग किया है। टीकाएँ मूलग्रन्थ से जुड़ी होती हैं। उनमें खुलकर लिखने का अवसर कम ही मिल पाता है। इसी कारण शायद टोडरमलजी को 'अर्थ संदृष्टि' ग्रन्थ रचने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसमें उनकी संकलित की हुई समूची सामग्री का प्रयोग देखने को मिलता है। इसमें उन्होंने "ऋण-प्रतीक के लिए पाँच चिह्नों का प्रयोग और विभिन्न अर्थों में शून्य का प्रतीकवद्ध प्रयोग वतलाया है। इसमें प्रयुक्त कुछ प्रतीक गिरनार तथा अशोक काल से पूर्व के शिलालेखकालीन प्रतीत होते हैं।"[२] इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने कुछ पुरातन शिलालेखों को भी देखा था, जो अव उपलब्ध नहीं हो रहे हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड और त्रिलोकसार में गणित-विषयक १० (दस) प्रक्रियाओं का उल्लेख हुआ है— १. अंकों की गति वामभाग से होती है, २. परिकर्माष्टक के नाम निर्देश, ३. संकलन व व्यकलन की प्रक्रियाएँ, ४. गुणकार व भागहार की प्रक्रियाएँ, ५. विभिन्न भागहारों का निर्देश, ६. वर्ग व वर्गमूल की प्रक्रिया, ७. घन व घनमूल की प्रक्रिया, ८. विरलनदेय घातोक की प्रक्रिया, ९. भिन्न कर्माष्टक (Fraction) की प्रक्रिया, १०. शून्य परिकर्माष्टक की प्रक्रिया।[3]

गोम्मटसार जीवकाण्ड और अर्थसंदृष्टि में पदार्थों और अक्षरों से अंकों को जानने की विधि का उल्लेख मिलता है। 'अर्थ संदृष्टि' में टोडरमलजी ने लिखा है "तहाँ कहीं पदार्थनि के नाम करि सहनानी है। जहाँ जिस पदार्थ का नाम लिखा होई तहाँ तिस पदार्थ की जितनी संख्या होइ तितनी संख्या जाननी। जैसे विधु=१ क्योंकि दृश्यमान चन्द्रमा एक है। निधि=९ क्योंकि निधियों का प्रमाण ९ है।"[४] अक्षर से अंक की बात लिखते हुए एक दूसरे

१. भिक्षु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २२३.
२. वही, पृष्ठ २२४-२५.
३. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ २१३-१४.
४. अर्थसंदृष्टि, १/१३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थान पर उन्होंने कहा है, "वहुरि कहीं अक्षरनिकौं अंकनि की सहनानी करि संख्या कहिए हैं। ताका सूत्र-कटपय पुरस्थवर्णं नवनव पञ्चाष्ट कल्पितै : क्रमश:। स्वर-व्यञ्जन शून्यं संख्यामात्रो परिमाक्षरं त्याज्यम्। अर्थात्–

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	(ये नौ)
१	२	३	४	५	६	७	८	९	
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	(ये नौ)
१	२	३	४	५	६	७	८	९	
प	फ	ब	भ	म	(ये पाँच)				
१	२	३	४	५					
य	र	ल	व	श	ष	स	ह		(ये आठ)
१	२	३	४	५	६	७	८		

वहुरि अकारादि स्वर वा ञ वा न करि विन्दी जाननी। वा अक्षर की मात्रा वा कोई ऊपर अक्षर होइ जाका प्रयोजन किच्छु ग्रहण न करना।"[१]

तात्पर्यार्थ––तात्पर्य यह है कि अंक के स्थान पर कोई अक्षर दिया हो तो वहाँ व्यञ्जन का अर्थ तो उपर्युक्त प्रकार से १, २ जानना। जैसे कि ङ, ण, म, श इन सब का अर्थ ५ है और स्वरों का अर्थ विन्दी जानना। इसी प्रकार कहीं ञ या न का प्रयोग हुआ तो वहाँ भी विन्दी जानना। मात्रा तथा संयोगी अक्षरों को सर्वथा छोड़ देना। इस प्रकार अक्षर पर से अंक प्राप्त हो जायेगा।

इससे स्पष्ट है कि अंक लिपि, ब्राह्मीलिपि (अक्षरात्मिका) से प्रभावित थी। अक्षर और अंकों का यह सहगमन आगे चलकर अध्यात्म और गणित के समन्वय का सूत्र बना। महावीर के तीर्थकाल में आदर्श को तौलने के लिए लौकिक गणित एक साधन के रूप में प्रयुक्त हुआ। उससे अनन्त और सलागा गणन मापा जाने लगा। आत्मा, अध्यात्म और जीव आदि की कोटियाँ और उनसे सम्वन्धित प्रक्रियाओं की रचना में लौकिक गणित की सहायता ली गई। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने यदि एक ओर अध्यात्म की सूक्ष्म विवेचना की तो दूसरी ओर गणित का भी सूक्ष्म और सर्वाङ्ग विश्लेषण किया। वे यह कर सके, क्योंकि ऐसा उनके खून में भिदा था। 'अक्षर' सम्राट ऋषभदेव के दायीं ओर था और 'अंक' वायीं ओर। दोनों एक पिता की सन्तानें। परस्परानुपेक्षी सम्वन्ध स्वाभाविक था। इसकी पुष्टि जैन प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों से होती है।

१. अर्थ संदृष्टि, १/१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विश्व भाषाओं की लिपि-संख्या

"त्रिषष्ठिः चतुष्षष्ठिर्वा वर्णा शम्भुमते मताः ।
प्राकृते संस्कृते चैव स्वयं प्रोक्ता स्वयंभुवः ।।"

पाणिनीय शिक्षा ३

लिपि-तालिका	मूलवर्ण
१. प्राकृत	६४
२. संस्कृत	६३
३. उर्दू	३६
४. रूसी	३६
५. अपभ्रंश	३४
६. हिन्दी	४५
७. फारसी	३२
८. अरबी	२८
९. तुर्की	२८
१०. स्पेनी	२८
११. लेटिन	२६
१२. जर्मनी	२६
१३. फ्रांसीसी	२५
१४. ग्रीक	२४
१५. इटालियन	२०
१७. चीनी	२१४

इसके अतिरिक्त एक-एक देश में प्रान्तों के हिसाब से विभिन्न भाषाएँ हैं, जैसे भारत में बंगला, तमिल, उड़िया, तैलगु, मराठी, कन्न ड़ आदि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय लिपिमाला-स्वर और व्यञ्जन

"तेत्तीस वेंजणाहं, सत्तावीसा सरा तहा भणिया ।
चत्तारिय जोगवहा, चउसट्ठी मूलवण्णाओ ।।"

—आचार्य नेमिचन्द्र, गोम्मटसार, १/३५२

तेंतीस व्यञ्जन, सत्ताईस स्वर और चार योगवाह चौंसठ मूल वर्ण हैं ।

२७ स्वर

ह्रस्व स्वर

जिनके उच्चारण में एक मात्रा-काल लगता है ।

अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ।

दीर्घ स्वर

जिनके उच्चारण में दो मात्रा-काल लगता है ।

आ ई ऊ ॠ लॄ ए ऐ ओ औ ।

प्लुत स्वर

जिनके उच्चारण में तीन मात्रा-काल लगता है ।

आ ई ऊ ॠ लॄ ऐ ऐँ ओ औ ।

३३ व्यंजनाक्षर

२५ पंचवर्गाक्षर

क् ख् ग् घ, ङ ।
च् छ् ज, झ् ञ् ।
ट् ठ् ड् ढ् ण् ।
त् थ् द् ध् न् ।
प् फ् व् भ् म् ।

८. परं वर्णाष्टकम्

य् र् ल् व् ।
श् ष् स् ह ।

प्राकृत भाषा की ब्राह्मी वर्णमाला में ३३ व्यञ्जन, २७ स्वर और ४ योगवाह मिलाकर ६४ मूल वर्ण होते हैं । संस्कृत भाषा की अक्षरमाला में ६३ मूलवर्ण होते हैं । उसमें 'लॄ' का प्रयोग नहीं होता, अवशिष्ट ३३ व्यञ्जन, २६ स्वर और ४ योगवाह होते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य आशाधर-विरचित

चौबीस तीर्थंकर अक्षर-माला स्तोत्र

अमरनरपतिसमितिकृतपादपीठाय ।
आदित्यकोटिरुचिवृषभजिनराजाय ॥१॥

इतिहासमासिबहुजयरत्नकोशाय ।
ईश्वरश्रीगणभृदजितपरमेशाय ॥२॥

उदधिसमवैर्याय वंधुरनिवासाय ।
ऊर्जितज्ञानपति संभव जिनेशाय ॥३॥

ऋविहितनुतिलसदभिनंदजिनेशाय ।
ॠविहितनुतिलसदभिनंदनजिनेशाय ॥४॥

लृस्तुतिक्रमकरण परमगुरूनाथाय ।
लॄपूजितप्रमदसुमतियतिनाथाय ॥५॥

एकांतवादिमद कुंजरमृगेशाय ।
ऐश्वर्यबोध निधिपद्मप्रमेशाय ॥६॥

ओरचितचरणवरसुपार्श्वनाथाय ।
औविकारविहितमहामति सुपार्श्वाय ॥७॥

अंरुपपरिपूर्णजगदैकनाथाय ।
अःश्रवत्यक्तमद श्रीचंद्रनाथाय ॥८॥

करुणारससारकृतमत्यनंताय ।
खलकर्म निरूहपटुपुष्पदंताख्याय ॥९॥

गजवैरिविष्टराधिपभूतलेशाय ।
घद्विरदहरिराजसमशीतलेशाय ॥१०॥

ङप्रस्तुतत्रिकरणभद्राय ।
चरणप्रणीतात्मश्रेयोजिनेंद्राय ॥११॥

छत्रत्रयालंकृतश्रेयोराज्याय ।
जन्मादिभीतिविरहितवासुपूज्याय ॥१२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

झ झटितिनिश्चयितार्थ सुज्ञान विमलाय ।
ञ ञप्रक्षयीभूतकीर्तिधरविमलाय ॥१३॥

ट टक्यादिकीर्तिपरिपूर्णजगदंताय ।
ठ ठप्रमुखनरहितनुतिलसदनंताय ॥१४॥

ड डमुरासनायोगजितकर्मधर्माय ।
ढ ढक्कादिवाद्यखमहित जिनधर्माय ॥१५॥

ण णहधातुवाच्यविरहितशांतिनाथाय ।
त तत्वविद्यामृतोदधि शांतिनाथाय ॥१६॥

थ थत्यागनिर्मलीकृतकुंथुनाथाय ।
द दर्शनादित्रयोर्जित कुंथुनाथाय ॥१७॥

ध धनदविरचित समवसरणवरनाथाय ।
न नलिनरुचिपद विमलाऽरजिननाथाय ॥१८॥

प परमपदसुखमयमुदमल्लिनाथाय ।
फ फणिपतिकृतेज्याधिपतिमल्लिनाथाय ॥१९॥

ब बस्वादि विशदमरकीर्तिपरमेशाय ।
भ भवभारभीतिहर मुनिसुव्रतेशाय ॥२०॥

म महनीयगुणनिवहभूषनमिनाथाय ।
य यमनियमपरिकलितहृदय नमिनाथाय ॥२२॥

र रजतगिरिहरहसीतसितकीर्तिनाथाय ।
ल ललितगुणगणजलधिविधि नेमिनाथाय ॥२२॥

व वसुधाधिपतिकोटिनुतपार्श्वनाथाय ।
श शतपत्रपीठरंजित पार्श्वनाथाय ॥२३॥

ष षड्दर्शनस्तोत्रशतवर्धमानाय ।
स सप्तभंगी महोदयवर्धमानाय ॥२४॥

ह हरिहरहिरण्यगर्भस्तोत्रपात्राय ।
दक्षिणाधिपतिविमलबोधवरनेत्राय ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अकारादि अक्षर : वर्ण तथा फल

ध्यायेदनादि सिद्धान्त प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।
निः शेष शब्द विन्यास जन्मभूमि जगन्नुताम् ।।

अकारं चन्द्रकान्ताभं सर्वज्ञ विश्वयोनिकमृज ।
सर्वसिद्धिप्रदं ध्यायेत्समर्थं सर्वकर्मसु ।।१।।

आकारं श्वेतवर्णं तु सर्व लोक वशंकरम् ।
विश्वस्य स्वामिनं ध्यायेत्समर्थं वहु कर्मसु ।।२।।

इकारं चिन्तयेन्मंत्री जवाकुसुम सन्निभम् ।
विश्वचक्षुस्तया सर्वं समर्थं वहुकर्मसु ।।३।।

ईकारं रक्तवर्णं तु स्मरस्य जननी विदुः ।
अनंत सुखदं देवं समर्थं वहु कर्मसु ।।४।।

उकारं कृष्णवर्णं तु संस्मरेत् विश्वमूर्तिकम् ।
औपासनस्य वरदं ध्यायेत्समर्थं वहुकर्मसु ।।५।।

ऊकारं पीतवर्णं तु सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
स्मरेद्विश्वमुखं मंत्री सर्वविघ्न विनाशकम् ।।६।।

ऋकारं नीलवर्णं तु विश्वविद्याधिनायकम् ।
चिनायेच्च महामन्त्री समर्थं बहुकर्मसु ।।७।।

ॠकारं कृष्णवर्णं तु विश्वात्म सर्वलोकजित् ।
मंत्रिणां वरदं ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु ।।८।।

लृकारं तद्विश्वभवं सुवर्ण-सदृश-प्रभम् ।
मंत्रिणां वरदं ध्यायेत् समर्थं वहुकर्मसु ।।९।।

महाकायं विश्वदृशं सर्वविघ्नविनाशकम् ।
लॄकारं चिन्तयेत्ध्यानी समर्थं बहुकर्मसु ।।१०।।

महाशूरं विश्वविदं कुंदपुष्प सत्विषम् ।
एकारं चिन्तयेन्मन्त्री समर्थं वहुकर्मसु ।।११।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐंकारं विमलं ध्यायेद्विश्वज्ञानात्मकं शुभम् ।
मंत्रिणां वरदं ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु ॥१२॥

ओकारं पंचवर्णं तु परमात्म स्वरूपकम् ।
सर्वात्मवरदं ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु ॥१३॥

विश्वविद्याधिपं ध्यायेत्सर्वंभूतवशं करम् ।
औकारं वरदं ध्यानी समर्थं बहुकर्मसु ॥१४॥

अंकारं तारकावर्णं चिन्तयेद् विश्वशक्तिदम् ।
मंत्रिणां वरदं ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु ॥१५॥

अःकारं स्फटिकाकारमनन्तात्म स्वरूपकम् ॥१६॥

ककारं पद्मरागाभं तत्पुरुषभधिदैवतम् ॥१७॥

खकारं नीलवर्णं तु जिनराजाधिपं शुभम् ॥१८॥

गकारं तु हरिद्वर्णं कर्मठाधिपमेव च ॥१९॥

घकारं काञ्चनाकारं वीरदेव समाह्वयम् ॥२०॥

ङकारं पूर्णचन्द्राभं क्षेत्रज्ञाधिपपूजितम् ॥२१॥

चकारं रजताभं तु अघोरमधिपत्थकम् ॥२२॥

छकारं त्विक्षुपत्राभं अमृतात्मस्वरूपकम् ॥२३॥

जकारमशितशस्तं विजयाधिप दैवतम् ॥२४॥

झकारं रक्तवर्णं तु अच्युताधिपदैवतम् ॥२५॥

ञकारं चम्पकावर्णं सर्वज्ञाधिपदैवतम् ॥२६॥

टकारं कारिकावर्णं सद्योजाताधिपत्यकम् ॥२७॥

ठकारं शुभ्रवर्णं तु देवांगेन समन्वितम् ॥२८॥

डकारं स्वर्णवर्णं तु चिन्तितार्थस्वरूपकम् ॥२९॥

ढकारं श्वेतवर्णं तु स्थाणुराधिप दैवतम् ॥३०॥

णकारं पद्मवर्णं तु परमेष्ठिस्वरूपकम् ॥३१॥

तकारं शंखवर्णं तु वामदेवाधिपत्यकम् ॥३२॥

थकारं शस्तवर्णं तु विष्णुदेवाधिपत्यकम् ॥३३॥

दकारं कुंकुमाकारं कालाघीशाधिपत्यकम् ॥३४॥

धकारं नीलवर्णं तु शिवनामाधिपत्यकम् ॥३५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नकारं पंचवर्णं तु प्रसन्नाधिपपूजितम् ॥३६॥
पकारं पंकजाभं तु ईशानाधिप संभृतम् ॥३७॥
फकारं प्रस्तुतं वर्णं सिद्धानामाधिपत्यकम् ॥३८॥
बकारमिन्द्रचापाभं वृषभाधिप संस्कृतम् ॥३९॥
भकारं ताम्रवर्णं तु नित्यंदेवासुरार्चितम् ॥४०॥
मकारं शुक्लवर्णं तु भवनाधिप. संस्कृतम् ॥४१॥
यकारं कृष्णवर्णं तु महाप्राण समन्वितम् ॥४२॥
रकारं रक्तवर्णं तु स्वाहाधिप समन्वितम् ॥४३॥
लकारं पीतवर्णं तु इन्द्रदेव समर्चितम् ॥४४॥
वकारं श्वेतवर्णं तु वारुण्यमधिदैवतम् ॥४५॥
शकारं नीलवर्णं तु सर्वाम्विर समर्चितम् ॥४६॥
षकारं वहुवर्णं तु वाचस्पत्याधि दैवतम् ॥४७॥
सकारं क्षीरवर्णं तु गम्भीराधिप संभृतम् ॥४८॥
हकारं सर्ववर्णं तु मंत्रमूर्ति समन्वितम् ॥४९॥

सर्वात्मकं महाकारं सर्वज्ञं सर्वशक्तिकम् ।
सर्वमंत्र मुखं ध्यायेत्समर्थं वहुकर्मसु ॥१॥

वाग्भवं चन्द्रकान्ताभं मतिज्ञानात्मकं शुभम् ।
जिनेन्द्र सदृशं ध्यायेत्समर्थं वहुकर्मसु ॥२॥

रक्ताभं कामराजं तु श्रुतज्ञान स्वरूपकम् ।
जिनेन्द्रं सततं ध्यायेत्समर्थं वहुकर्मसु ॥३॥

भूमीशं धवलाकारं अवधिज्ञान स्वरूपकम् ।
जिनेन्द्रं सततं ध्यायेत्समर्थं वहुकर्मसु ॥४॥

श्रीबीजं हेमवर्णं तु मनःपर्ययरूपकम् ।
जिनेन्द्रं सततं ध्यायेत्समर्थं वहुकर्मसु ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंकानां वामतो गति :

१ एकम् ।

१० दश ।

१०० शतम् ।

१००० सहस्रम् ।

१०००० अयुतम् ।

१००००० लक्षम् ।

१०००००० नियुतम् ।

१००००००० कोटिः ।

१०००००००० अर्बुदम् ।

१००००००००० वृन्दम् ।

१०००००००००० खर्वः ।

१००००००००००० निखर्वः ।

१०००००००००००० शङ्खम् ।

१००००००००००००० पद्मम् ।

१०००००००००००००० सागरः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४४३ ई. पू. के एक अभिलेख की ब्राह्मी लिपि

अभिलेख की प्राप्ति—

पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने, मिणाय नामक ग्राम (अजमेर से ३२ मील दूर) के एक किसान से, एक पत्थर प्राप्त किया, जिस पर वह तम्बाकू कूटा करता था। पत्थर पर कुछ अक्षर अंकित थे। उनकी लिपि प्राचीन थी। पण्डितजी प्रख्यात पुरातत्त्वान्वेषी थे। वे उन अक्षरों को सहज ही पढ़ सके। वे अक्षर थे—

"विराय भगवताय चतुरसीतिवस कायें सालामालिनिय.....
रंनि विठ माज्झमिके......।"

अभिप्राय—

महावीर भगवान् से ८४ वर्ष पीछे शालामालिनी नाम के राजा ने माज्झमिका नामक नगरी में, जो कि प्राचीन समय में मेवाड़ की राजधानी थी—किसी बात की स्मृति के लिए यह लेख लिखवाया था।

इससे स्पष्ट है कि यह शिलालेख वीर-निर्वाण के ८४ वर्ष बाद लिखाया गया है, अर्थात् पहले वीर-निर्वाण संवत् प्रचलित था और लेखादि में उसका उपयोग किया जाता था।

यह शिलालेख अजमेर म्यूजियम में सुरक्षित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्राट खारवेल (१७० वर्ष ई.पू.) के शिलालेख की ब्राह्मी लिपि

खारवेल कलिगदेश (उड़ीसा) के राजा थे। वे चौबीस वर्ष की वय में राज्य-सिंहासन पर अधिष्ठित हुए और उनका यश चतुर्दिक् में विकीर्ण हो उठा। वे दुखियों के आधार-स्तम्भ, अहिंसा के प्रतीक और जिनेन्द्र के परम भक्त थे। उन्होंने मगध के राजा नन्द को पराजित किया और अपने कुलदेवता कलिगजिन की खड्गासन मूर्ति को उत्साह और उत्सव के साथ वापस कलिग लाये। कभी कलिगों के कुलदेवता जिन का अपहरण नन्द ने किया था।

उदयगिरि-खण्डगिरि नाम के दो पर्वतों में १९ गुफाएँ हैं। उनमें एक हाथी-गुफा कहलाती है। इसका कोई निर्दिष्ट आकार नहीं है। गठन अतिसाधारण है। इसमें हाथी के चार प्रकोष्ठ और एक बरामदा है। गुफा का अन्तर्देश ५२ फीट लम्बा और २८ फीट चौड़ा है। द्वार की ऊंचाई ११½ फीट है। इस गुफा में खारवेल का विश्वविख्यात शिलालेख उत्कीर्ण है। ब्राह्मीलिपि में निबद्ध। वहुत समय तक इसे कोई पढ़ न सका। डा. काशीप्रसाद जायसवाल को इसके पढ़ने में सोलह वर्ष लगे। उदाहरण स्वरूप इसकी दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

नमो अरहंतानं (।) नमो सवसिधानं (।) ऐरेन महाराजेन महमेघवाहनेन चेत राजवसवधनेन पसथ सुलभलखनेन चतुरंतल थुन-गुनो पहितेन कलंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन.

पंदर वसानि सिरि-कडार-सररिवता कीडता कुमारकीडिका (।) ततो लेख रूपगणना-ववहार-विधि-विसारदेन सवविजावदातेन नव वसानि योवराजपसासितं (।) संपुण-चतुवीसति-वस्ते त दानि वधमान सेसयोवे (=व) नाभिविजयो ततिये.

अर्थ——अरहंतों को नमस्कार (।) सब सिद्धों को नमस्कार (।) ऐल महाराज मेघवाहन (') चेतराज वंश की प्रतिष्ठा के प्रसारक प्रशस्त शुभ लक्षणयुक्त चारों दिशाओं (विश्व) के आधार स्तम्भ के गुणों से विभूपित कलिंग देश के राजा श्री खारवेल के द्वारा.

(अपने) कांत प्रतापी गौरवर्ण किशोर शरीर द्वारा पन्द्रह वर्ष-पर्यन्त कुमार क्रीड़ाएँ करता है (।) इसके उपरान्त लेख मुद्रा राजगणित धर्म (शासन नियम) तथा शासन संचालन में पारंगत समस्त कलाओं में प्रवीण (उसने) नौ वर्ष तक युवराज पद से शासन करता है। चौवीसवाँ वर्ष समाप्त होने पर पूरे यौवन-भर उत्तरोत्तर विशाल विजेता (उसका) कलिंग के तृतीय राजवंश में पूरे जीवन के लिए महाराज्याभिषेक होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्दानुक्रमणिका

अथर्ववेद–९१, ९६.
अर्थशास्त्र–२५, ७९.
अर्थसंदृष्टि–१२६, १२७.
अर्द्धमागधी–७४, ९८.
अध्यात्मरहस्य–४२, ४३.
अनगार धर्मामृत–६९, ७५, ७६.
अनक्षरश्रुत–३५.
अनेकार्थ कोष–३०.
अपभ्रंश भाषा और साहित्य–६६.
अपभ्रंश साहित्य–६६.
अब्दगसिस–९४.
अबुलफजल–१०४
अभिधान चिंतामणि–५५, ५६, ६७, ११५.
अभिधान राजेन्द्र कोष–६४, ६५, ७१, ७७, ९८, ९९, १२०.
अमरकोष–२३, २४, २६, ३०, ३९, ४९, ५०, ५१, ५५.
अलफाबेट–८८, ९०, ९३.
अववाइअसुत्त–६०, ७३.
अवेस्ता–२५.
अशोक (सम्राट)–२६, २७, ७३, ९३, ९४, १००, १०३, १०५, १११, ११७, ११८.
अष्टाध्यायी–२५, २६.
असग–७९.
अक्षर–३०, ३३, ४३,
अक्षरसमाम्नाय–४०.
अक्षरश्रुत–३५.
अंकलिपि–१२०.
आइन-ए-अकबरी–१०४.
आदिपुराण–३१, ७९.
आदिपुराण (हिन्दी)–७०.
आदिपुराण में प्रतिपादित भारत–७९.
आपस्तम्बधर्मसूत्र–१०२ .
आवश्यक चूर्णि–९८.
आवश्यक निर्युक्तिभाष्य–६५.
आवश्यकवृत्ति–९५
आशाधर–४३, ४५, ४६, ४८, ६९, ७५, ७६, १३०.
इण्डियन एण्टीक्वेरी–२७, २८, १०६, १०८.
इण्डियन पेलियोग्राफी–२४, २५, २८, ३०, ४८, ४९, ५०, ५७ ९१, ९३, ११४, ११७, ११८.
इण्डियन सिस्टम ऑव राइटिंग–५२.
इन्द्रनन्दि–७५.
ई. आई. थामस–७७, १०३.
ईसा–७५.
उत्तरपुराण–५६.
उदयगिरि-खण्डगिरि–१३७.
उदयनारायण तिवारी–५३, ५८, ९०, १०४, १०६, १०९, ११६, ११८.
उपनयन संस्कार–७९, ८०.
एपिग्राफिया इण्डिका–२७, २८, २९.
एलबरूनी–२४, ४९.
ए. एस. आल्तेकर–८५, ८७.
ऋग्वेद–९१, ९२, १२०.
ऋषभदेव–३९, ५४, ५६, ६१, ६५, ६७, ७२, ७३, ७७, ९१, ९२, ९४, ९८, १११, ११६, ११९, १२०.
कथासरित्सागर–४९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कदम्ब–११२.
कन्नड़ साहित्य का नवीन इतिहास–
७०, ७३, १०३, ११२.
कनिंघम–७६, ९३.
कर्पूरमञ्जरी–५९.
कर्मकाण्ड–१२६.
कषायपाहुड़–७४.
कल्पसूत्र–६०, ७७, ९८.
कल्याणमन्दिर स्तोत्र–३२.
कलिंग–२७, २८, ५४.
कलिंगजिन–१३७.
कलिंग लिपि–१०५.
कृष्ण–७५.
कातन्त्ररूपमाला–६४.
कातन्त्र व्याकरण–४०, ४१.
कात्यायन–४५.
कायस्थ–२७, २८, २९.
कालिदास–७८.
काव्यालंकार टीका–६०.
काशगर–४९.
किरातार्जुनीयम्–३७.
कीलहार्न–१२१.
कुटिललिपि–१०६, ११०.
कुन्दकुन्द–३४, १२२.
कुमारसम्भव–४९.
कूर्मपुराण–७५
के. जी. जायसवाल–१०५, १३७.
कैलाशचन्द जैन–९८.
कोलब्रुक एसेज–२७.
कोषकल्पतरु –५१.
कौटिल्य–२५, ७९.
खजुराहो के लेख–२९.
खरोष्ठी–९४, १००, १०१, ११४,
११६, ११७, ११८, ११९.
खारवेल– ५४, १३७.
खोतानी–१००, १०४.
गउडबहो–५९.
गणितसारसंग्रह–१२५.
गणेश-मन्दिर–७६.
गंगा (पुरातत्त्वाङ्क)–१०२.
ग्रन्थलिपि–११२, ११३.
ग्राफ पेपर्स–२४, ४९.
गारुलिक सिंहादित्य–९४.
गिरनार–११७, १२६.
ग्रियर्सन–११०.
गुणधर–७४.
गुणभद्राचार्य–५६.
गुणाढ्य–१००.
गुप्त इन्सक्रिप्शन्स–१०६.
गोम्मटसार जीवकाण्ड–३३, ३६, ४०,
१२६,
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा–४६, ४९,
५१, ५२, ९१, ९४, १०८, १३६.
चम्बा (जिला)–७६, ७७.
चम्बाघाटी–५७.
चालुक्य–११२.
चूड़ामणि संस्कार–७८.
छत्रचूड़ामणि–७९, ८५.
छान्दोग्योपनिषद्–५८, ९२.
जदुनाथ सरकार–१०४.
जम्बूस्वामी चरिउ–७९. ८०.
जिणदत्तचरिउ–८०, ८६.
जिनदासगणि–९५.
जिनसहस्रनाम–२४, ८९.
जे. एस. आर. फरलांग–१०४.
जैनिज्म इन कलिंगदेश–५४.
जैनिज्म इन विहार–९२.
जैन शिलालेख-संग्रह–४७.
जैन साहित्य और इतिहास–६५, ६९.
जैन साहित्य का बृहत् इतिहास–३५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन सिद्धान्त भास्कर–५४.
जैन हिन्दी भक्तिकाव्य और कवि–८७.
जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष–१२४, १२६.
जैसलमेर–४८.
टोडरमल–१२६.
डिरिंजर (डॉ.)–८८, ९०, ९२, ११५.
डी. डी. कोसाम्बी–७७, १०३.
तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक–३६, ९५, १२३.
तत्त्वार्थवृत्ति–९८.
तत्त्वार्थसारदीपक–४१, ८४.
तत्त्वार्थसूत्र–३६, ३७, १२४.
तक्षशिला–५४, ९८, १००.
तक्षशिला विश्वविद्यालय–९९.
तिलोयपण्णत्ति–९७, १२१.
त्रिलोकसार–१२६.
तुवर्रमिलिंद–१००.
तैत्तिरीय उपनिषद्–९२.
तोखारी–१००, १०४.
दशकुमार चरित–५१.
द्रव्यश्रुत–९५.
दामनन्दि–६७, ७२, ११५, १२०.
दाशमिक विद्या–१२१.
द्राविड़ी–१०२.
दिनकर–७३, १०२, १११.
दिपि–२५.
दिविर–२६.
द्विसन्धान काव्य–७९.
देवनागरी लिपि–१०७, १०८, १०९.
धनञ्जय–७९.
धम्मपद–४९.
धम्मलिपि–२६.
धर्म्यध्यान–३२.
धवला–१२२.
धौली–९३.
नन्दा–६१.
नन्दिकेश्वरकाशिका–३१.
नन्दिवृत्ति–९५.
नमिसाधु–६०.
नागरी–१०७, १०९.
नागलिपि–१०७.
नागार्जुनी कोंडा–१०५.
नाट्यसूत्र–७२.
नाथूराम प्रेमी–६५, ६९.
नानार्थरत्नमाला–५५.
नाभिराय–१२०.
नियरकस–४८, ५०, ९९.
नेमिचन्द्र शास्त्री–६८, ७९, ९७.
पउमचरिउ–८६.
पञ्चास्तिकाय–१२२.
पण्णवणासुत्त–५९, ७३, ९६, ९८,
पद्मानन्दकाव्य–६९.
प्रतिष्ठा पाठ–४५, ४६, ४८.
प्रतिष्ठासारोद्धार–३२, ७४.
प्रद्युम्नचरित्र–८०.
प्रवचनसार–३४.
पाणिनि–२५. १०२, ११९.
पाणिनि शिक्षा–३९, ४०.
पाणिनिकालीन भारत–२५, २६, ९६,
पाणिनीय अष्टाध्यायी–२५.
पार्श्वनाथ चरित–७९.
प्राकृत विमर्श–५९.
प्राचीन भारत में शिक्षा–८५.
प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन–
२७, ४६, ४७, ५१, ९३, १००,
१०५, १०६, १०९, ११०, ११२.
प्राणनाथ (डॉ.)–५२.
प्राचीन लिपिमाला–४६, ४९, ५१, ५२.
पिपरावा–५१, ८८.
पुक्खरसारिया–१०२.
पुराणसार संग्रह–६७, ६८, ७२, ११५,
१२०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुदेवचम्पू–५६, ६२.
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय–४३.
पुष्पदन्त–६५, ६६, १२०.
पुष्पदन्तभूतबलि–७४.
पूज्यपाद (आचार्य)–३५, ४२.
फ्लीट–९४, १०६, ११२.
फा–वान–शुलिन–५७.
वट्टेलुत्तु–११३.
बड़ली ग्राम–५२, ८८.
बरनेल–४५.
वल्लभी–२६.
बहिस्तून (अभिलेख)–२५.
बृहज्ज्ञानकोष–४८.
बृहत्कथा–१००.
बृहत्कल्प–३५.
बृहदारण्यक–५८.
बृहत् जैन शब्दार्णव–३५, ३७, ४१.
ब्रह्मपुरी–७६.
ब्रह्मविद्या–५८
ब्रह्मविलास–३८.
बाहुबलि–५४, ६१, ७७, ९२.
ब्राह्मी–५५, ५६, ५९, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ७२, ७४, ७५, ७७, ८३, ९८, १०१, १०२, १०५, ११४, ११७.
ब्राह्मी देवी–५७.
ब्राह्मीलिपि–५५, ५८, ६०, ७२, ७४, ८८, ९०, ९१, ९९, १०३, १११, ११८, १२७, १३६.
बिनोवा भावे–११०.
बुद्ध–७५, ८६.
बुद्धिस्ट इण्डिया–९१.
भगवज्जिनसेनाचार्य–४०, ४३, ४६, ६३, ७२, ८४.
भगवतीदास 'भैय्या'–३८.
भगवतीसूत्र–२३, २४, ४४, ४५, ४७, ६४, ७१, ९६, ९८, १२०.
भगवानलाल इन्द्राजी–१२०.
भट्टाकलंक–३६, ९५.
भरत–३९, ६१, ७२.
भरतमुनि–७२.
भरत और भारत–६१, ७०, ९१, १२१.
भरतेश्वर-बाहुबलि रास–९२.
भर्तृहरि–४१.
भरमौर–७६, ७७.
भारतीय पुरालिपि शास्त्र–२५, २६, २७, ४५, ४८, ४९, ५०, ५८, ८५, ८८, ९१, ९३, १०१, १०२, १०५, १०६, १०७, १११, ११२, ११७, १२०, १२१.
भावश्रुत–९५.
भावसेन–४०.
भाषा (पत्रिका)–११०.
भाषाविज्ञान-कोष–८८.
भास्कराचार्य–१२३.
भिक्षु अभिनन्दन ग्रन्थ–१२५, १२६.
भूतलिपि–९९, १००.
भोजदेव–४०.
मनसुखसागर–७०.
मलयगिरि–९५.
मल्लिनाथीय टीका–७८.
महापुराण (अपभ्रंश)–६५, १२०.
महापुराण (संस्कृत)–४०, ४३, ४६, ५६, ६२, ६३, ७२, ८४, ९६.
महाभारत–७२, ७३, ९०.
महावीर (तीर्थंकर)– ७४, ८६, १२०, १२७, १३६.
महावीराचार्य–१२५.
मंगलदेव शास्त्री–९१.
मार्कण्डेय पुराण–७०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मॉडर्न रिव्ह्यु–५४, ९८.
मालती माधव–५१.
मेदिनीकोष–२३, २४, ३९, ५१.
मेरुनन्दन उपाध्याय–८७.
मोहन-जो-दरो–२३, ५२, ५४, ८८, ८९, ९०.
यतिवृषभ–९७, १२१.
याज्ञवल्क्य स्मृति–२७, २८, ७९.
यूनान–७७.
यूनानी लिपि–९९, १०१, १०२.
योगवासिष्ठ–३३, ८९.
रघुवंश–७८.
राजतरंगिणी–२६, २८.
राजबली पाण्डेय–२६, २८, ३०, ४४, ४८, ४९, ५०, ५७, ९१, ९३, ११४, ११६.
राजेन्द्रलाल मित्र–२४.
राधाकुमुद मुकर्जी–५४, ८५.
रामप्रसाद चंदा–५४, ८९.
रायस डेविस–९१
राष्ट्रकूट–११२.
राहुल सांकृत्यायन–८५, ८६.
रुद्रदामन–१०५.
लब्ध्यक्षर–३०, ३३, ३६.
ललितविस्तर–१००, १०१, १०७, ११४.
लक्ष्मीचन्द जैन–१२५.
लाइफ ऑफ बुद्ध–७७, १०३.
लिपि संस्कार–७९, ८३.
वजीरखेड़–४७.
वर्ण–३९.
वर्णमातृका–८४.
वर्णविपर्यय–११५.
वर्ण-समाम्नाय–८५.
वर्द्धमान गुरु–४७.
वर्द्धमान चरित–७९.
वराहमिहिर–७३.
व्हूलर–२५, २६, २७, २९, ४४, ४५, ४९, ५०, ५८, ८५, ८८, ९२, १०१, १०२, ११२, ११५, ११७.
वाक्पतिराज–५९.
वाक्यपदीयम्–४१.
वासुदेवशरण अग्रवाल–२५, २६, ७०.
व्रात्य–७३.
व्रात्यकाण्ड भूमिका–७३.
विण्टरनित्स–४५.
विद्यानन्द उपाध्याय–५२.
विनयपिटक–२३.
विशेषावश्यक भाष्य–३६, ९८.
विष्णुधर्मसूत्र–२८.
वेद–२५, ६१, ७७, ९१.
शत्रुञ्जय काव्य–६८, ९७, १२०.
शंकराचार्य–७७.
श्लोकवार्त्तिक–३०, ३१.
शातकर्णी (सम्राट)–९४.
शारदा लिपि–११०, १११.
शारदीया नाममाला–५६, ७२.
शाहबाज़गढ़ी–२६, १००, ११७.
श्रीमद्भगवद्गीता–४२, ९१.
श्रीमद् भागवत–६१, ७७, ९१, १२०.
श्रुतपंचमी–७४.
श्रुतावतार–७५.
षट्खण्डागम–७४.
षट्प्राभृत टीका–९८.
सत्प्ररूपणासूत्र–३४, १२३.
सत्यकेतु विद्यालंकार–१०३.
समवायांग सूत्र–९६, ९७, ९८, ९९.
समाधितन्त्र–४२.
सम्प्रति–१०३.
सम्पूर्णानन्द–७३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वार्थसिद्धि–३५, १२३.
सरस्वती कण्ठाभरण–४०, ६०.
संस्कृति के चार अध्याय–७३, ९७, १०३, १११.
स्तुतिविद्या–३७, ३८.
स्वयम्भू–३९.
स्वयम्भूस्तोत्र–५७, ६१, ९२.
साहित्यकोष–५८, ५९.
सांची–२७.
सिकन्दर–४८, ४९, ७६, ९९, १०२.
सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ–७०, ७३, १०३, १११.
सिद्धमातृका–८४, १०७, १०८.
सिद्धहेमशब्दानुशासन–६७, ९७, ११९.
सिन्धुघाटी लिपि–५२, ८८, ९०.
सिवालिक स्तम्भ–९३.
सुनन्दा–६१.
सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या–५२, १०९.
सुन्दरलाल (पं.)–१०३, १०४.
सुन्दरी–५६, ६१, ६२, ६३, ६५, ८३, ११४, ११५, १२०.
सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक–३३.
स्टेनकोनो–११४.
सोमसेन–४४, ४५, ८०, ८१, ८२, ८३.
सोहग्रोरा–४७, ८८.
हरिभद्र–९५.
हरिवंशपुराण–६१.
हर्षकीर्त्ति–५६.
हलायुध–५५.
हाथीगुम्फ शिलालेख–१०५.
हिन्दी भाषा–९१, १०१, १०४.
हिन्दी विश्वकोष–६०, १०३.
हिन्दु सभ्यता–५४.
हीरालाल जैन (डॉ.)–१२२.
हुल्श (डॉ.)–९४, ११२, ११३.
हेमकोष–३९.
हेमचन्द्र (आचार्य)–५६, ६६, ६७, ९७, ११५, ११९.
क्षेमेन्द्र–२६, २८.
त्रेसठशलाकापुरुषचरित्र–६६, ६७, ९७, ११५.

□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वाध्याय-पृष्ठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वाध्याय-पृष्ठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi